डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र

(व्यक्तित्व और कृतित्व)

१९६३
डा० मिश्र अभिनन्दन समिति
राजनाँदगाँव

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स,
दरेसी नं. २, आगरा

प्रकाशक
डा० ब. प्र. मिश्र अभिनन्दन समिति,
राजनाँदगाँव, मध्यप्रदेश

अभिनन्दन समिति के दो शब्द

रायपुर के पत्रकारद्वय श्री गोविन्दलाल वोरा एवं श्री मधुकर खेर ने लगभग वर्ष भर पूर्व विचार किया कि डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र के जन्मोत्सव पर 'नवभारत' का एक साहित्यिक विशेषांक निकाला जाये। उनकी यह योजना प्रत्येक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार के प्रति थी और वे डाक्टर साहब से इसका श्रीगणेश करना चाहते थे। स्थानीय 'जनतन्त्र' ने इसी प्रसंग को लेकर जन्म-दिन से लगभग एक माह पूर्व उनका संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण छापा। विशेष विवरण श्री गोविन्दलाल जी वोरा ले गये। उनके अग्रज श्री मोतीलाल वोरा स्थानीय पत्रकार संघ के उत्साही मन्त्री हैं। जब जन्म-दिवस के लिए लगभग एक सप्ताह ही शेष रह गया था तब श्री मोतीलाल जी के मन में यह कल्पना जागी कि इसी अवसर पर डाक्टर साहब के जन्मोत्सव का एक समारोह भी क्यों न किया जाय। षष्ट्यब्द पूर्ति पर न हुआ तो अब चतुःषष्ट्यब्द पूर्ति पर ही सही। उन्होंने अपने पत्रकार-बन्धुओं से सलाह की और इस विषय में सबको पूर्ण उत्साहित पाया। तब पत्रकार बन्धुओं ने तुरन्त ही नगर की सभी विचारधाराओं के प्रमुख व्यक्तियों की एक बैठक आमन्त्रित की जिसमें सभी का आशातीत समर्थन प्राप्त हुआ और तुरन्त ही अभिनन्दन-समिति का गठन हो गया।

समय बहुत थोड़ा था, फिर भी समिति इस समारोह की अध्यक्षता के लिए बड़ौदा विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह को और कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए बम्बई के श्री गोपालसिंह नेपाली को अपने बीच पाने में सफल हुई। समारोह अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। पचास से ऊपर संस्थाओं ने पुष्पहार पहनाकर डाक्टर साहब का स्वागत किया। श्री प्राध्यापक गजानन माधव मुक्तिबोध ने डाक्टर साहब की कृतियों पर विस्तृत आलोचनात्मक चर्चा की। समिति की ओर से उन्हें रजत-मंजूषा में मानपत्र अर्पित किया गया तथा १०००) की थैली भेंट की गयी। एक उत्साही सज्जन अपनी पुष्पमाला में ५१) के नोट गूँथकर ले आये थे। वह थैली और यह रुपया श्री डाक्टर साहब ने साहित्यिक कार्य के निमित्त अभिनन्दन समिति ही को सौंप दिया। समिति ने निश्चय किया कि इस रकम से डाक्टर साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक ग्रन्थ छपवाया जाय और उसके

प्रथम संस्करण से जो भी आय हो वह पूरी की पूरी स्थायी निधि के रूप में दिग्विजय महाविद्यालय के अधिकारियों के पास जमा कर दी जाय ताकि उसके ब्याज से प्रति वर्ष एक पदक ऐसे विद्यार्थी को दिया जाया करे जो दिग्विजय कालेज से बी० ए० उत्तीर्ण होकर हिन्दी में अधिक अंक प्राप्त कर सका हो। चीनी आक्रमण से इस निर्णय में यह परिवर्तन कर दिया गया कि खर्च काट कर आय की सम्पूर्ण राशि भारतीय सुरक्षा कोष में दे दी जाय। श्री डाक्टर साहब भी इस निर्णय से सहर्ष सहमत हुए। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी निर्णय का परिणाम है।

समारोह में भाग लेने वाले अपार जनसमुदाय का, स्वेच्छा के साथ अर्थ-सहयोग देकर हम लोगों का उत्साहवर्धन करने वाले दानदाताओं का, थोड़े ही समय की सूचना पर उत्सव के लिए शुभकामनाएँ और ग्रन्थ के लिए लेख-सामग्री आदि भेजने वाले विद्वज्जनों का और दिन-रात अथक परिश्रम करके इन सब योजनाओं को इस प्रकार सुसम्पन्न करा देने वाले कार्यकर्ताओं का, विशेषकर श्री मोतीलालजी वोरा आदि स्थानीय पत्रकार-बन्धुओं का, हम बहुत आभार मानते हैं।

बङ्गीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता की मंत्राणी सुश्री निर्मला तालवार, एम.ए. तथा प्रदीप प्रकाशन, आगरा के श्री गोविन्दजी अग्रवाल भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सत्प्रयत्नों से यह ग्रन्थ इस रूप में प्रकाशित हो सका।

—**किशोरीलाल शुक्ल**
अध्यक्ष, डाक्टर मिश्र अभिनन्दन समिति, राजनाँदगाँव

श्रद्धांजलि

(आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह, अध्यक्ष, अभिनन्दन समारोह)

साधक आराधक परम वाणी के निष्काम ।
मानस के रस के चरम राजहंस अभिराम ।।
तुलसी-मधु सौरभ सने रहते तन, मन, प्राण ।
चंचरीक अभिनव ! सतत करते वह रस-दान ।।
दर्शन में निवसित फलित, कर्म, ज्ञान, अनुराग ।
महाभाग तुम जगत में जंगम पुण्य प्रयाग ।।
कल्मष-उत्सारक सहज नित नव कला विलास ।
चिर उदात्त संगीत वह आत्मा का उच्छ्वास ।।
प्रकट लेखनी से कलित संस्कृति का शुचि सत्य ।
राष्ट्रभारती पा तुम्हें हुई आज कृतकृत्य ।।
प्रति जन, प्रति गृह, प्रति गली बरसाते रसधार ।
प्रभु के चातक ! जगत के अमृत पयोद उदार ।।
रमे राम में तुम स्वयं तुम में रमे कि राम ।
नवयुग के तुलसी ! तुम्हें शत-शत विनत प्रणाम ।।
तुलसी दल से शुचि सरस अपने चौंसठ वर्ष ।
चढ़ा दिये निज राम को तुमने पूरित हर्ष ।।
अष्टोत्तर शत की बनो माला पूर्ण प्रकाम ।
उर-कर के अवलंब बन दो मन को विश्राम ।।
उस दूर्वा से जो सहज प्रभु के तन-सी श्याम ।
अजर अमर अक्षय रहो सरसो नित्य ललाम ।।
तुलसी तुलसीदल तथा तुलसीवल्लभ राम ।
सहस्रायु तुम को करें, बनो लोक आराम ।।

व्यष्टि समष्टि के संगम के तट के वट की बनो अक्षय छाया ।
वाणी-विलास के पुण्य-प्रकाश से भारती की करो ज्योतित काया ।।
संस्कृति के रथ के बन सारथि दूर करो प्रतिरोध की माया ।
धर्म को, देश को और समाज को, देते रहो अभी और सवाया ।।

विषयानुक्रमणिका

खण्ड (क)—व्यक्तित्व

खण्ड (ख)—साहित्यिक कृतित्व

खण्ड (ग)—परिशिष्ट

(क)

व्यक्तित्व

१
परिचय

दिनांक १२ सितम्बर १९६२ को श्रद्धेय डा० बलदेवप्रसाद जी मिश्र का ६५वाँ वर्ष प्रवेश हुआ। उनका जन्म राजनाँदगाँव नगर में हुआ था। उनके पिता रेलवे तथा पी० डब्लू० डी० की ठेकेदारी के सिलसिले में आकर राजनाँदगाँव में बस गये थे। उनके पितामह पं० शिवरतनलाल मिश्र ने ठेकेदारी के व्यवसाय में बड़ा नाम कमाया था और यहीं नहीं रायपुर में भी कई अच्छी-अच्छी इमारतें मुफ्त में बना दी थीं। उनके पिता की भी काफी प्रतिष्ठा रही और नगर-पालिका राजनाँदगाँव में सम्भवतः वे अपने जीवन भर सदस्य रहे। डा० मिश्र के बन्धुगण भी अपने-अपने क्षेत्र में पर्याप्त सम्मान्य हैं और उनके पुत्रगण भी शासन की अच्छी जगहों पर हैं। इस प्रकार डा० मिश्र का सम्भ्रांत परिवार ईश्वर की कृपा से भरापूरा है और इस स्थान का गौरव ही बढ़ा रहा है।

डा० मिश्र सन् १९१४ में स्थानीय स्टेट हाई स्कूल से प्रवेशिका परीक्षोत्तीर्ण हुए और १९१८ में नागपुर के हिस्लॉप कालेज से बी० ए० तथा मारिस कालेज (नागपुर महाविद्यालय) से १९२० में एम० ए० तथा १९२१ में एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, ड्राइंग व शार्टहैंड आदि की विशेष परीक्षाएँ पास कर ली थीं और हिन्दी साहित्य के विशारद होकर काव्यलेखन प्रारम्भ कर दिया था। उस समय की उनकी कई पुस्तकें आगे चलकर परिमार्जित रूप में प्रकाशित हो गई हैं।

१९२० के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव उन पर भी पड़ा और स्व० ठा० प्यारेलालसिंह के सहयोग से उन्होंने यहाँ पर एक राष्ट्रीय माध्यमिक शाला चलाई तथा उन कठिन दिनों में जबकि चन्दा मिलना बहुत मुश्किल था, उन्होंने भागवत् सप्ताह पढ़कर संस्था के लिए द्रव्य एकत्र किया। उन्हीं दिनों यहाँ मारवाड़ी सेवा समाज की स्थापना हुई जिसमें उनका प्रमुख हाथ था। इस संस्था द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण योजनाएँ प्रस्तुत की गई थीं जिनमें कुछ तो पूरे प्रदेश के लिए ही अनुकरणीय हो गई थीं। उस समय यहाँ नियमानुसार कांग्रेस की शाखा तो स्थापित नहीं हो सकती थी किन्तु रचनात्मक कार्य किये जा सकते थे। वे कार्य बहुत बड़ी मात्रा में किये गये।

१९२२ में जब आन्दोलन शिथिल हो गया, उन्हें स्व० पं० रविशंकर शुक्ल

ने रायपुर बुलवा लिया और न केवल वकालत में किन्तु कांग्रेस के सार्वजनिक कार्यों में भी उन्हें अपना सहयोगी बनाया। दस महीनों तक डा० मिश्र रायपुर में रहे और वहाँ उन्होंने साहित्यिक वातावरण में भी अपना पूर्ण योगदान दिया। वहीं एक सप्ताह में उन्होंने 'शंकर दिग्विजय' नामक नाटक लिखा जो आगे चलकर नागपुर विश्वविद्यालय के एम० ए० में पाठ्यग्रन्थ भी रह चुका है।

डा० मिश्र का मन वकालत में नहीं लगा और इसलिए परिस्थितियों ने जब उन्हें रायगढ़ राज्य में जज (न्यायाधीश) होकर जाने को विवश किया तब उन्होंने नौकरी अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर ली। वहाँ वे एक वर्ष न्यायाधीश रहकर, ७ वर्ष नायब-दीवान व दस वर्ष दीवान (सन् १९४० तक) रहे। इस बीच उन्होंने प्रशासनिक क्षेत्र में तो महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की ही और काफी कीर्ति तथा प्रतिष्ठा भी कमाई किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी लेखनी से अनेक ग्रन्थ दिये और नागपुर विश्वविद्यालय में जब से हिन्दी विभाग अलग हुआ और छत्तीसगढ़ क्षेत्र का नागपुर विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रहा तब तक वे हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष भी रहे। वहीं रहते हुए १९३९ में 'तुलसी दर्शन' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके शिक्षा-विषयक सर्वोच्च उपाधि डी० लिट्० भी प्राप्त की। भारतीय भाषा पर उसी भारतीय भाषा में शोध-प्रबन्ध लिखकर देने की छूट भारतवर्ष में सम्भवतः उन्हीं ने सबसे प्रथम प्राप्त की जिसका अनुकरण अन्य विश्वविद्यालयों में हुआ।

१९४० में स्वास्थ्य की गड़बड़ी के कारण वे विशिष्ट पेन्शन पर अवकाश प्राप्त करके रायपुर आ गये और वहाँ अनेक सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन किया। जब १९४२ के बाद सार्वजनिक भाषणों आदि पर कड़ा प्रतिबन्ध लग गया था तब उन्होंने प्रमुख नेताओं के गुप्त संकेत के आधार पर अपने मानस प्रवचनों द्वारा राष्ट्र चेतना के विचार जाग्रत रखे।

१९४४ में बिलासपुर ने एक महाविद्यालय खोला जिसके संचालन के लिए वे सोचे गये और चार वर्षों तक उन्होंने वहाँ रहकर उस स्थान की भी अनेक सार्वजनिक संस्थाओं में प्रमुख भाग लिया। लगभग १९४७ में वे फिर बीमार पड़े और अनेक वर्षों तक अस्वस्थ रहे। अस्वास्थ्य के कारण बिलासपुर तो उन्हें छोड़ना ही पड़ा परन्तु इसी बीच रायपुर के दुर्गा आर्ट्स कालेज की भी नींव सुदृढ़ करने के लिए उन्हें एक वर्ष तक उस संस्था का अवैतनिक प्राचार्य रहना पड़ा।

१९५३ में वे महाकोशल भारत सेवक समाज के प्रदेश संयोजक नियुक्त किये गये और तब से उनका सम्पर्क देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद जी से हुआ जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। डा० मिश्र छह वर्षो तक प्रदेश संयोजक रहे और न केवल महाकोशल का ही किन्तु पूरे मध्य प्रदेश का कार्य सँभाला। इस

बीच वे पं० जवाहरलाल जी नेहरू द्वारा दो बार भारत सेवक समाज की सर्वोच्च संस्था सेन्ट्रल बोर्ड (केन्द्रीय समिति) में भी नामजद किये गये।

इस समय वे मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राजनाँदगाँव नगरपालिका के अध्यक्ष हैं तथा कलकत्ते की बंगीय हिन्दी परिषद् आदि अनेक प्रमुख भारतीय संस्थाओं में प्रमुख भाग लिया करते हैं। प्रायः एक दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों से उनका किसी न किसी रूप में सम्बन्ध है और वे एम० ए० ही नहीं किन्तु पी-एच० डी० और डी० लिट्० तक की परीक्षाओं के परीक्षक रहा करते हैं। उनकी एक पुस्तक ('मानस माधुरी') की सराहना डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने भूमिका लिखकर की है। अन्य पुस्तक ('भारतीय संस्कृति') की इसी प्रकार सराहना भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री भुवनेश्वर प्रसाद सिंह जी ने की है और एक अन्य महाकाव्य ('साकेत सन्त') की भूमिका राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने लिखी है। इन्हीं पुस्तकों पर उन्हें विश्वकवि डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर, युगप्रवर्तक साहित्य महारथी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, महाकवि हरिऔध, सुप्रसिद्ध शिक्षाविशारद डा० सर गंगानाथ झा आदि-आदि की प्रशंसाएँ भी प्राप्त हो चुकी हैं।

हम उनके जन्म दिवस के इस शुभ अवसर पर उनके सुदीर्घ जीवन के लिए अनेकानेक शुभ कामनाएँ करते हैं।

—रतनलाल अग्रवाल, मन्त्री, अभिनन्दन समिति

२

डाक्टर साहब के जीवन की प्रधान घटनाएँ

वैयक्तिक—जन्म १२-६-१८६८ को मध्याह्न समय राजनाँदगाँव में। बड़े भ्राता पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, रिटायर्ड सेशन जज; छोटे भ्राता पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र, भूमि स्वामी, प्रकाशक एवं पत्रकार; सबसे छोटे भ्राता पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, रिटायर्ड कलेक्टर। ज्येष्ठ पुत्र नर्मदा प्रसाद मिश्र, सब-जज; कनिष्ठ पुत्र काशी प्रसाद मिश्र, जिला सेवा अधिकारी। परिवार उत्तर प्रदेशीय कान्यकुब्ज। पिता स्वर्गीय पं० नारायण प्रसाद मिश्र, मालगुजार एवं लोक कर्म विभाग आदि के ठेकेदार। पिता एवं पिता के चाचा पं० शिवरतनलाल इस अंचल के प्रभावशाली व्यक्ति थे।

शैक्षणिक—एम० ए० (१६२०), एल-एल० बी० (१६२१), तथा डी० लिट्० (१६३६)। ये ही भारत के ऐसे प्रथम डी० लिट्० (सर्वोच्च उपाधिधारी) हैं जिन्होंने अंग्रेजी के बदले भारतीय भाषा (हिन्दी) में लिखकर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया। नागपुर विश्वविद्यालय में दस वर्षों तक हिन्दी के अवैतनिक विभागाध्यक्ष (अर्थात् जब से विभाग खुला और जब तक छत्तीसगढ़ पर उसका क्षेत्रीय अधिकार रहा तब तक)। एस० बी० आर० कालेज बिलासपुर एवं दुर्गा आर्ट्स कालेज रायपुर के प्रथम प्राचार्य। नागपुर विश्वविद्यालय के किनखेड़े व्याख्याता एवं बड़ौदा विश्वविद्यालय के 'विजिटिंग प्रोफेसर'। भूतपूर्व मध्य प्रदेश एवं महाकोशल माध्यमिक शिक्षण बोर्ड के हिन्दी पाठ्यक्रम समिति के संयोजक, भूतपूर्व सी० पी० साहित्य अकादमी एवं वर्तमान मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् के सदस्य। प्रान्तीय शासनों द्वारा मनोनीत विश्वविद्यालयीन स्तर पर नियुक्ति-विशेषज्ञ। सदस्यता एवं परीक्षकी में प्रयाग, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, पंजाब, वाराणसी, पटना, कलकत्ता, जबलपुर, सागर, नागपुर, हैदराबाद, बड़ौदा आदि विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित। डाक्टरेट की सर्वोच्च उपाधि डी० लिट्० तक के परीक्षक।

साहित्यिक—**(क) सृजनात्मक**—जीव-विज्ञान (रचनाकाल १६२४—समादृत मौलिक शोध-प्रबन्ध), कोशल किशोर, साकेत सन्त और रामराज्य (रामचरित से सम्बन्धित तीन महाकाव्य—मध्यवर्ती ग्रन्थ के भूमिका लेखक राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त), तुलसी दर्शन (१६३८—डी० लिट्० का

स्वीकृत तथा समादृत शोध-प्रबन्ध), भारतीय संस्कृति (उत्तम शोध-प्रबन्ध, भूमिका लेखक—भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री भुवनेश्वर प्रसाद सिंह), मानस में रामकथा, मानस माधुरी (उत्कृष्ट विवेचनात्मक ग्रन्थ, भूमिका लेखक—राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद), जीवन-संगीत (काव्य), उदात्त संगीत (काव्य), क्रान्ति (नाटक) आदि लगभग अस्सी ग्रन्थों के निर्माता; बाल कक्षाओं से लेकर एम० ए० तक के पाठ्य ग्रन्थों के रचयिता; विविध पत्र-पत्रिकाओं के लेखक एवं सम्पादक; रामचरितमानस के यशस्वी प्रवचनकार (ग्राम्य कुटी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक समान रूप से सम्मानित); दार्शनिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि विषयों के प्रभावशाली वक्ता।

(ख) संगठनात्मक—मध्य प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तीन बार अध्यक्ष (प्रथम बार सागर अधिवेशन में, द्वितीय बार नागपुर अधिवेशन में और अब तृतीय बार नये मध्य प्रदेश के रायपुर अधिवेशन में); अखिल भारतीय प्राच्य महासम्मेलन (नागपुर अधिवेशन) के हिन्दी विभागाध्यक्ष; अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तुलसी जयन्ती समारोह के अध्यक्ष; गुजरात प्रदेशीय एवं बम्बई प्रदेशीय राष्ट्रभाषा सम्मेलन एवं पदवीदान महोत्सव के अध्यक्ष; बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता के अनेक वर्षों से अध्यक्ष; समय-समय पर अनेक शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के उद्घाटनकर्ता, प्रधान अतिथि, अध्यक्ष आदि; आकाशवाणी की परामर्शदात्री समिति के सदस्य एवं बम्बई आकाशवाणी द्वारा आयोजित अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के अध्यक्ष; भारती-संगम के प्रदेश-संयोजक, भारत शासन द्वारा मैसूर राज्य में हिन्दी के विशिष्ट व्याख्याता के रूप में नियोजित; एम० आर० ए० एस०, पी० ई० एन०, आदि बीसियों उत्तम संस्थाओं के भूतकालीन अथवा वर्तमान-कालीन सदस्य।

प्रशासनात्मक एवं सेवात्मक—अट्ठारह वर्षों तक रायगढ़ राज्य की शासकीय सेवा जिसमें दस वर्षों तक वहाँ के यशस्वी दीवान। पूर्वीय रियासती मन्त्रिमण्डल के सदस्य। रायगढ़ तथा खरसिया नगरपालिकाओं के अध्यक्ष, रायपुर नगरपालिका के ज्येष्ठ उपाध्यक्ष तथा राजनाँदगाँव नगरपालिका के वर्तमान अध्यक्ष। भारत सेवक समाज की अखिल भारतीय परिषद् तथा उसके केन्द्रीय मण्डल के सदस्य एवं मध्य प्रदेश के प्रदेश-संयोजक (१९५३ से १९५६ तक)। अन्य अनेक लोकहितकारिणी संस्थाओं से सम्बद्ध।

ईश्वर करे उनके द्वारा अधिकाधिक लोक सेवाएँ होती रहें।

['जनतंत्र' ४ अगस्त १९६२]

३

आत्म-परिचय

मेरे अनुभव

भौतिक विज्ञान के इस युग मे लोग पितर योनि, मंत्र तंत्र, फलित ज्योतिष, आदि-आदि से आस्था हटा चुके हैं। मुझे तो एक नहीं अनेकों प्रमाण इन सब के पोषण में मिले हैं। इसलिए मैं कैसे कहूँ कि ये सब निरर्थक हैं।

जो अकलुष मन से वैज्ञानिक अनुसंधान करना चाहते हों उनके लिए भी मेरे अनुभव कौतूहलपूर्ण सामग्री तो दे ही देंगे। मेरे पितामह पं० शिवरतन-लाल जी की प्रथम पत्नी, जो मृत हो चुकी थीं, उनकी छाया दूसरी पत्नी पर आती थी, यह मैंने स्वतः देखा है। अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी सुन चुका हूँ कि उन्होंने ही भविष्यवाणी की थी। बात यह है कि मेरे बड़े भ्राता पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के बाद मेरी माता के एक और बच्चा होने वाला था। उसके जीवन के लिए घोर संकट काल है यह उन दिवंगत पितामही ने पहले ही बता दिया था। बात सच हुई और बच्चा मरा ही पैदा हुआ। तब चिन्ता हुई कि कहीं गर्भाशय ही न विकृत हो गया हो। इस पर उन पितामही ने भविष्यवाणी की थी कि चिन्ता न की जाय, बच्चे के बदले में बच्चा ही मिलेगा। बदले में प्राप्त हुआ यह बालक ही बड़ा होने पर बलदेव प्रसाद कहाने लगा। उन पितामही का स्मृति मन्दिर घर पर ही बना था। एक बार मेरे चचा सहसा बहुत बीमार पड़ गये। मैंने देखा कि मेरी दूसरी पितामही उसी स्थान पर ले जाई गई और वहाँ वे चेतनाहीन स्थिति में आकर कुछ बुदबुदाने लगीं। कुछ देर के बाद स्पष्ट शब्दों में किन्तु उसी चेतनाहीन स्थिति में उन्होंने कहा "पानी के छींटे मारो, अभी ठीक हो जायगा।" लोगों ने इसे पहली पितामही की वाणी माना। पानी के छींटे लगाये गये और चचा देखते-देखते उठ खड़े हो गये। अब न तो दूसरी पितामही ही रहीं और न वह स्मृति मन्दिर ही शेष रह गया। उन बातों की स्मृतियाँ ही शेष हैं। इसी प्रकार एक बार अकस्मात् मैंने ऐसे घनिष्ठ मित्र की छाया देखी जो ठीक उसी समय मर चुका था किन्तु उसकी मृत्यु की न तो मुझे कोई सूचना थी, न कल्पना ही। जागते हुए भी मुझे थोड़ी देर के लिए तन्द्रा हो आई थी और मुझे जान पड़ा कि जैसे वह मित्र मेरी खाट पर आकर बैठ गया हो और मुझसे बातें करना चाहता हो। जागरण और स्वप्न के बीच की मेरी विचित्र-सी स्थिति थी वह।

यंत्र मंत्र तंत्र तो कई लोगों ने कई प्रकार के सिखाये परन्तु किसी भी प्रकार की कष्टप्रद साधना के लिए मेरे पास धीरज ही न था। अतएव एक बहुत सीधा-सा टोटका मैंने एकतरा बुखार उतारने का सीखा जिसे मंत्र और यंत्र दोनों कहा जा सकता है। सैकड़ों व्यक्तियों पर उसकी आजमाइश की होगी मैंने, और शायद ही कहीं असफल रहा होऊँ।

फलित ज्योतिष के तो कई चमत्कार देखे। भृगुसंहिता ग्रन्थ का भी मैंने परीक्षण किया और उत्तम ज्योतिषियों के फलादेशों की भी मैंने जाँच की। जिनकी कल्पना भी न थी ऐसी घटनाओं के भी संकेत कई अवसरों पर एकदम सही उतरे। मेरे दिवंगत बड़े पुत्र की आकस्मिक मृत्यु का हाल तो आश्चर्यजनक ढंग पर सही उतरा और भविष्य फलादेश पास रहते हुए भी हम समय रहते कुछ प्रबन्ध न कर सके। मेरी समझ में फलित ज्योतिष डाक्टरी की तरह का एक ऐसा शास्त्र है जिसमें रोग और उसके भविष्य परिणाम के संकेत तो बहुत स्पष्ट रूप से दिये जा सकते हैं परन्तु शत-प्रतिशत रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह परिणाम होगा ही; क्योंकि यदि आत्मशक्ति और चिकित्सादिक के उपाय तथा प्रबन्ध प्रबल होंगे तो निश्चय ही रोग के परिणाम को बदल देंगे। ग्रहों के भिन्न-भिन्न रंग रहा करते हैं और प्रकाश किरणों के इन भिन्न-भिन्न रंगों का परिणाम शरीर स्वास्थ्य और मनोवृत्तियों पर भिन्न-भिन्न ढंग से पड़ता है। यह सूर्यरश्मि-चिकित्सकों से छिपा नहीं है। इसी रश्मि-विज्ञान पर फलित ज्योतिष का शास्त्र आधारित है। किस ग्रह का कब किस प्रकार का प्रभाव पड़ने वाला है और यदि वह बुरा प्रभाव होगा तो कैसे टाला जा सकता है—यही तो फलित ज्योतिष का विषय है। ग्रहों की कौन कहे, मैंने तो नीलम की चमक का भी प्रत्यक्ष फल देखा है। जानते हुए भी कि वह नीलम व्यय विषयक बुद्धिभ्रम पैदा कर देता है, मैंने उसे हठपूर्वक एक दिन धारण किया और इच्छा न रखते हुए भी व्यर्थ का व्यय करने के लिए विवश हो गया।

फलित ज्योतिष से सम्बन्धित स्वर विज्ञान, शकुन विज्ञान, स्वप्न विज्ञान आदि के शास्त्र हैं। स्वर विज्ञान और शकुन विज्ञान के कुछ अनुभव सही निकले और कुछ गलत। परन्तु कोई स्वप्न तो भविष्य के इतने प्रबल संकेत दे गये हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। हम लोगों पर एक बार दुर्भाग्यवश एक मुकदमा चल गया था जिसकी मैंने स्वप्न में भी कभी कल्पना न की थी। उसके पूर्व एक विचित्र सपना दीखा। मैंने देखा कानून के शिकंजे मेरे पैरों तक पहुँचकर भी मुझे जकड़ नहीं पाये हैं और मैं एकदम सजग हो गया। ठीक यही हाल उस अकल्पित मुकदमे का हुआ। एक बार मैं रायगढ़ राजपरिवार के साथ दिल्ली में था और परिस्थिति यह थी कि छोटा राजकुमार इतना

रुग्ण हो गया था कि घर की कौन कहे कमरे से भी हटाया न जा सकता था। मकान मालिक ने इस संकट का लाभ उठाना चाहा और अतिरिक्त किराये के नाम पर मनमानी रकम ऐंठनी चाही। या तो मकान छोड़ो या मनमाना हर्जाना भरो, इन दो विकल्पों के अतिरिक्त तीसरा विकल्प ही न था। मैंने सपना देखा कि ठीक दो बजे दिन को मेरा शयनकक्ष खोलकर एक अपरिचित व्यक्ति घुस आया और अन्यों से मेरा पता लगाकर उसने मुझसे कहा, "दीवान साहब! मकान आपका है। मकान मालिक ने कहा है कि जब तक आप चाहें राजकुमार को यहीं रखें। किराये का कोई प्रश्न नहीं है। मैं उनका मुनीम हूँ। मुझे खास उन्होंने इसीलिए भेजा है।" तदनन्तर ठीक दो बजे, ठीक वही व्यक्ति, ठीक उसी प्रकार आया और ठीक उतने ही नपे-तुले शब्दों में, ठीक उसी तरह अपना सन्देश देकर चला गया। सन्देश की सत्यता असन्दिग्ध थी। वह जितनी असंभाव्य थी उतनी ही सत्य उतरी।

क्या भविष्य इतना नियतिपरवश है कि कौन मनुष्य किन और कितने शब्दों का व्यवहार करेगा यह भी पूर्व निश्चित हो जाया करता है? मैंने तो दर्शनशास्त्र मे एम० ए० किया है और पश्चिमी ढंग पर दर्शनशास्त्र पढ़ने वाला व्यक्ति आवश्यकता से अधिक तर्कशील हो जाया करता है। मन ने कहा संभव है यह मेरे ही अन्तर्मन की छिपी शक्ति का प्रभाव हो जो उस व्यक्ति के द्वारा प्रकट हुआ। अन्तर्मन का अस्तित्व मैं मानता हूँ और उसके चमत्कारों का अनुभव भी किया है। परन्तु हर बात अन्तर्मन की आड़ से समझा सका होऊँ ऐसा मुझसे बन नहीं पड़ा। मुझे तो एक व्यक्ति के नियामक अन्तर्मन की अपेक्षा समग्र विश्व के नियामक अन्तर्मन की आड़ से ही कई रहस्यों का सही-सही हल मिला है। उसे ही प्रभु, परमात्मा, इष्ट देव जो चाहे कह लीजिए। व्यक्ति के अन्तर्मन का नियामक भी वही है और विश्व के घटनाचक्रों का भी नियामक वही है। इस नियमन के भी कुछ उदाहरण सुन लीजिए। छुटपन में एक बार एक काला बिच्छू अलक्षित रूप से मेरी ओर बढ़ा। इतने ही में चींटियों की पाँत निकली और उसका बलि बनकर मेरी रक्षक हो गईं। मैंने बिच्छू देख लिया और बच गया। एक बार एक करायट साँप को सेम समझकर मैंने कौतूहलवश न केवल उठा ही लिया था वरन् हाथ की हलकी मसलन भी दे दी और उपेक्षा से छोड़ दिया था। फिर भी उसने न काटा। एक बार एक पुराने सजायाब ने, जिसे कि मैं सजा सुनाने वाला था, अदालत के कटघरे के भीतर से इतना तेज पत्थर फेंककर मारा कि आश्चर्य ही है कि मैं बाल-बाल बच गया। चलती रेल के डिब्बे की खिड़की के काँच पर एक बार किसी ने एक पत्थर मारा। काँच फूटकर डिब्बे में बिखर गया परन्तु मैं काँच के टुकड़ों से एकदम अछूता रह गया। मैं घायल बाघ से बचा हूँ, षड्यन्त्रों से बचा हूँ, चोरों से बचा हूँ,

तमंचों से बचा हूँ और इस प्रकार कि जैसे कोई जागरूक रक्षक समय पर मुझे चैतन्य कर दिया करता हो। शिकारी कुत्तों की चपेट में आ जायँ तो कैसे बचना, यह एक अंग्रेज के मुँह से मैंने अनायास सुना और उसके बाद ही बम्बई में ठीक ऐसा ही अवसर आया जिसमें मुझे वही उक्ति प्राणरक्षक सिद्ध हुई। मानो मेरी रक्षा का प्रबन्ध करने ही के लिए किसी ने उस अंग्रेज को प्रेरणा देकर वह बात पहले ही से कह दी हो। एक बार बदरीश यात्रा के समय मेरे एक सहचारी की लापरवाही से एक घर में आग लग गई परन्तु ठीक उसके पूर्व ही वहाँ के तहसीलदार से, जो उस समय उस गाँव में दौरे पर आये हुए थे, मेरी पहिचान हो गई थी जिसके कारण उस अपरिचित प्रदेश में भी क्षतिपूर्ति के लिए मुझे कोई अनुचित रूप से तंग न कर पाया। इन सबको मैं केवल अपने ही अन्तर्मन का प्रभाव कैसे मान सकता हूँ। सर्वसमर्थ की जिन भुजाओं का मुझे ऐसी घटनाओं में आभास मिला, उसी का प्रभाव दिल्ली वाले सपने में भी क्यों न मान लिया जाय।

आकस्मिक सहायता के तो और भी अनेकानेक दृष्टान्त स्मृतिपट पर आ रहे हैं। मैं एक बार उन्नाव के अपने ही गाँव का मार्ग भूल गया। जिस समय किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा था उसी समय एक समीपस्थ ग्राम का दरजी दिखाई पड़ा जिसने अनायास ही मेरे कुटुम्ब के प्रति अपनी परम्परागत श्रद्धा प्रकट करते हुए मुझे गाँव की राह तक पहुँचा दिया और इस प्रकार सहर्ष निस्स्वार्थ सेवा की। एक बार जब मैं भारत सेवक समाज के अधिवेशन के लिए पावापुरी गया था, बख्तियारपुर स्टेशन पर मैंने स्वयंसेवकों की प्रतीक्षा की परन्तु वहाँ मुझे कोई न मिला। अकस्मात् स्टेशन पर ही नालन्दा कालेज के एक ऐसे अपरिचित छात्र से भेंट हो गयी, जिसने न केवल मेरा भरपूर आतिथ्य किया किन्तु पावापुरी यात्रा की भी पूरी व्यवस्था आवश्यकता से अधिक सुविधा के साथ कर दी। मेरे व्यस्त प्रवासी जीवन में ही नहीं, किन्तु रायगढ़ तथा अन्य स्थानों के अपने कार्यकाल में भी ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं। कहाँ तक उनके उल्लेख किये जायँ। हाँ, एक कौतूहलपूर्ण प्रसंग का उल्लेख करने की इच्छा अवश्य हो रही है। बात सागर की थी। विश्वविद्यालय के अपने प्राध्यापक मित्रों के साथ मैं गोपालगंज आया था जहाँ चर्चा करते-करते रात के दस बज गये। मोटर बिगड़ गयी और कोई सवारी न मिल सकी। अतएव ग्यारह बजे रात के समय हम लोगों ने कई मील की यात्रा पैदल ही तय करने का निश्चय किया। एक फर्लांग चलने के बाद ही यह चर्चा चली कि राम नाम लेने का ऐसा परिणाम तो न होना चाहिए कि पैदल चलने की दलेल मिले। ठीक उसी समय मानो हमी लोगों के लिए एक मोटरगाड़ी आकर वहाँ रुक गयी। गाड़ी सिविल सर्जन साहब की थी और उन्होंने उस मोड़ पर कौतूहलवश ही उसे

रोका था। हमें पहिचान कर सहर्ष उन्होंने हमें विश्वविद्यालय तक पहुँचा दिया। ऐसी आकस्मिक सहायताओं को एकदम आकस्मिक कैसे कह दिया जाय। एक-दो हो तो ऐसा भी कहा जा सकता था।

मैं कब रोया कब हँसा

जीवन में मुझे हँसी के फूल ही मिलते रहे हों यह बात नहीं। आँसुओं के काँटे भी खूब मिले। परन्तु ईश्वर की कृपा है कि इन काँटों ने मुझे निराशावादी नहीं होने दिया। आखिर रोना क्यों। यदि रोड़े हैं तो जीवन का निर्झर उन्हें हटाता हुआ आगे चले और यदि चट्टानें हों तो उनसे कतराता हुआ अथवा उनसे समझौता करता हुआ आगे चले। भुनभुनाते रहने से लाभ ही क्या। उससे तो मानसिक अशान्ति व्यर्थ और बढ़ती है। "मीचु बुढ़ापा आपदा सब काहू पै होय, ज्ञानी भुगतै ज्ञान सौं मूरख भुगतै रोय।" मृत्यु और वार्धक्य तो संसार के क्रम में हैं। उस क्रम के लिए आवश्यक स्थितियाँ हैं ये। अतएव इनके लिए रोना ही क्या। रही आपदा, सो या तो वह स्वकृत होती है या परकृत होती है या देवकृत होती है। इन्हें ही आप "दैहिक भौतिक दैविक तापा" समझिए। हमारे अनेक रोगों-शोकों का दायित्व तो प्रायः स्व तथा समाज पर रहा करता है। देवकृत तापों का सम्बन्ध भी प्रायः हमारे ही कर्मो से रहता है। अतएव इन सब आपदाओं के लिए बिना ठीक-ठीक जाने समझे, ईश्वर को दोषी बनाते रहना कहाँ तक उचित होगा। इन्हें दूर करना तो हमारा ही कर्तव्य होना चाहिए। संकीर्ण दृष्टि वाले हम स्वार्थी लोग समग्रद्रष्टा जगन्नियन्ता पर अपनी किसी असफलता के लिए दोषारोपण करने लग जायँ तो वह एक प्रकार से झूठा ही आत्मसंतोष तो होगा।

मैंने तो देखा है कि मेरी असफलताओं ने भी मेरी वही धारणा पुष्ट की है कि ईश्वर जो करता है मनुष्य के भले के लिए ही करता है। कुछ उदाहरण सुन लीजिए। छात्र जीवन में न मैं बहुत पढ़न्ता रहा न बहुत खेलन्ता। कालेज में अपने हाथ अपनी रोटियाँ ठोकनी पड़ती थीं इसलिए न तो मैंने डिविजन फटकारने का स्वप्न देखा न फटकारा ही। परन्तु इस प्रकार के जीवन ने मुझे उत्तम स्वास्थ्य दिया और आत्मनिर्भरता सिखायी जो अब तक मेरे काम आयी है। बी० ए० होने के बाद मेरा आई० सी० एस० के लिए विलायत यात्रा का, और तदनन्तर उसकी असफलता के बाद ई० ए० सी० नियुक्त होने का, योग आया। वहाँ भी असफलता रही और मुझे अपना आवेदन पत्र वापस लेना पड़ा। अब सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ जो उस समय विदेशी सरकार की नौकरी नहीं मिली। १६२० में एम० ए० होने के अनन्तर रियासती जीव होते हुए भी मुझे राष्ट्रीय अन्दोलन में कूदना पड़ा। जीविका में उस समय की असफलता आगे चलकर मेरी सहायक हुई क्योंकि उसने मुझे न केवल लोकसेवा का अनु-

भव दिया किन्तु प्रदेश के गण्यमान्य लोकसेवकों से मेरी घनिष्ठता बढ़ा दी जो आगे काम आयी। १९२२ में मैंने रायपुर में वकालत का व्यवसाय प्रारम्भ किया और पूज्य पं० रविशंकर शुक्ल आदि महानुभावों का पूर्ण सहयोग मिलते हुए भी, जिनका कि सहकारी होकर मैं कार्य करता था, मैं उस व्यवसाय में नितान्त असफल रहा। पहिले मुकदमे की बहस मैंने बड़ी लगन से तैयार की और इसी तैयारी में देर से पहुँचने के कारण मैं वह मुकदमा हार गया। पहिली अपील भी मैंने उसी लगन से तैयार की परन्तु अपने नियोक्ता के प्रति न्यायाधीश की दया उकसाने में कुछ ऐसी अतिरंजना कर गया कि सीधे पड़ते हुए पाँसे भी उलटे हो गये और अपील तुरन्त खारिज कर दी गयी। दलालों के चक्करों से अलग परेशानी थी। वे बिना बुलाये आ धमकते और मुँह पर झूठ बोलते हुए मेरे सामने ही नवागन्तुक देहातियों से कहने लगते कि इन वकील साहब ने इस प्रकार के सैकड़ों मुकदमे जिताये है, इन्हीं को नियुक्त करो; अथवा कहने लगते कि जज साहब इनके रिश्तेदार हैं, इनकी बात मानते हैं, अतएव इन्हें ही नियुक्त करके सफलता पा सकोगे। कहाँ तक मैं प्रतिवाद करता फिरता। छह महीनों में ही मैं घबरा उठा। और जिस नौकरी के व्यवसाय को दुरदुराना चाहता था उसी की ओर आकृष्ट होने लगा। अब सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ जो मुझसे वकालत न बन पड़ी। उसमें पड़कर कदाचित् मैं इतना आत्म-विकास न कर पाता। १९२३ में घटनाचक्र ने मुझे रायगढ़ की रियासती नौकरी पर आसीन कर दिया। बड़ी इच्छा थी कि मुझे शिक्षा विभाग में कोई उपयुक्त स्थान मिले परन्तु हिन्दी ही की प्राध्यापकी तथा एजेन्सी इन्सपेक्टरी में से एक भी स्थान न मिल पाया यद्यपि सिफारिशें मेरे लिए ऊँची हो चुकी थीं और शुभचिन्तकों के प्रयत्नों में किसी तरह की कोई कसर नहीं रह गयी थी। अब सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ जो वे नौकरियाँ न मिलीं। मैं उनके बिना भी शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में इतना स्थान बना चुका हूँ जितना शायद उन परिस्थितियों में भी न बना पाता। रियासती नौकरी करते-करते कुछ ऐसे भी अवसर आये जब सरकारी उपाधियों का मिलना मेरे लिए निश्चित-सा जान पड़ा और अंग्रेज अफसरों ने मुझे अग्रिम बधाइयाँ तक दे डालीं। यद्यपि मेरे मन में उन उपाधियों का मोह कभी जागा नहीं परन्तु यह सत्य है कि मैंने उनके प्रति एकदम विरक्ति भी नहीं दिखायी थी। फिर भी वे न मिल पायीं। आज सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ जो मेरी राष्ट्रीय भावना उस समय आड़े आयी और मैं उपाधि की व्याधियों से मुक्त रहा। आज उनका क्या मूल्य। पर्याप्त जनप्रिय होते हुए भी सन् १९४० के प्रारम्भ में मुझे रायगढ़ छोड़ना पड़ा। मेरे स्वास्थ्य और राज्य की परिस्थिति, दोनों ने विवश किया। दूसरी रियासत में भी मैं उस समय न जा पाया। परन्तु अब मैं देखता हूँ कि उस

समय की असफलता इस समय के लिए वरदान सिद्ध हुई। उसी के कारण तो मुझे आजीवन विशिष्ट पेन्शन मिली, दो-दो महाविद्यालयों के प्राचार्य होने के अवसर मिले, और लोकसेवा के अनेकानेक क्षेत्र उपलब्ध हुए।

जब मैं रायगढ़ में था तब मैंने अपने पूर्व अध्यापक को डेढ़ हजार रुपये उधार दिलवाये थे। वे स्वतः डेढ़ हजार रुपये मासिक वेतन पाते थे। परन्तु उधारी के वे रुपये वसूल कराने में मुझे बरसों हैरान होना पड़ा और फिर भी केवल एक हजार वसूल करा पाया। शेष मैंने साहूकार को अपने पास से भरे। फिर भी रायगढ़ के बाद रायपुर आकर पुनः मैं इसी जर-जमीन के झगड़े में फँस गया और किरायेदारी के एक व्यर्थ के मामले ने मुझे छह महीने घेरा। फलत. रायपुर के सार्वजनिक जीवन से मेरा मन कुछ उचाट हुआ और उसी समय मैं बिलासपुर कालेज में खींच लिया गया। तीन साल बाद वहाँ भी कुछ आपसी झगड़े प्रारम्भ हुए जिनमें विजयी होकर भी मैंने कुछ इतनी मानसिक व्यथाएँ पायीं कि विजय पराजय का मेरे समक्ष कोई मूल्य ही न रहा और मैं इतना बीमार पड़ा कि तीन वर्षों तक भुगतता रहा। वह बीमारी निश्चय ही मेरे संचित मलों का सामूहिक परिणाम थी। रायगढ़ सरीखी रियासत की दीवानी कोई हँसी खेल तो नहीं थी। न जाने कितनी संकटकालीन परिस्थितियाँ मुझे पार करनी पड़ी थी और न जाने कितने षड्यंत्रों एवं निराधार लांछनों के विष मुझे अडिग होकर पीने पड़े थे। रायपुर का मुकदमा भी कुछ कम त्रासदायक न था। बरसों दिन-रात की कड़ी मेहनत यह शरीर कब तक सहता। परन्तु जमानतदारी की असफलता और उस लम्बी बीमारी के उज्ज्वल पक्ष की ओर जब मैं ध्यान देता हूँ तो उन्हें भी अब ईश्वरी वरदान ही मानता हूँ। उन्होंने मुझे लेन-देन में खरा और स्पष्टवादी होना सिखाया तथा चिन्ताओं से बचने का मंत्र सिखाया। विशेषतः उस बीमारी ने दवाओं की अपेक्षा आत्मशक्ति और प्रभुशक्ति पर विश्वास रखना सिखाया, प्राकृतिक चिकित्सा का महत्त्व सिखाया, उज्जैन के सन्त नागर जी का सम्पर्क स्थापित कराकर शवासन, शिथिलीकरण, यज्ञशक्ति, आशावादिता आदि की उपयोगिता सिखायी, और साथ ही यह भी सिखाया कि जीवन की दौड़ में सामान्यतः एक दूसरे को सहायता देते हुए ही लोग आगे बढ़ते हैं परन्तु अन्ततः सबको अपनी ही पड़ी रहती है। अतएव किसी व्यक्ति को अपने निकटस्थ कुटुम्बी से भी सेवा सहायताएँ लेते रहने का मनमाना अधिकार नहीं। ऐसी सेवा सहायता को वह अपना अधिकार नही किन्तु अपना सौभाग्य समझ कर ले। आचार्यों ने जो कहा कि मनुष्य अपने ही घर में भी अतिथि की तरह रहे—गृहेष्वतिथिवद् वसेत्—इस उक्ति में बड़ी गहरी सीख है। किन्तु यहाँ यह निस्संकोच कहूँगा कि ईश्वर की परम कृपा है जो मैंने

परम स्नेही बन्धु, परम सेवापरायणा पत्नी, तथा परम सुशील आज्ञाकारी बच्चे (कन्या तथा पुत्र) पाये हैं।

समाज सेवा

मैं अनुभव करता हूं कि अपनी योग्यताओं से अधिक ही सफलताएँ मुझे मिलती रही हैं अतएव कभी किसी पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा आदि के लिए मैं छटपटाया नही। मैंने दर्जनों संस्थाओं के निर्माण में हाथ बटाया होगा, पचासों संस्थाओं से सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहा और हूँ, सैकड़ों स्थानों पर हजारों सभाओं द्वारा लाखों लोगों से चर्चाएँ की हैं और बीसियों वर्षो से दायित्वपूर्ण अनेकों निर्वाचित पद सँभालता रहा हूं, परन्तु स्मरण नहीं होता कि कभी भी किसी पद के लिए मैं कोई चुनाव लड़ा होऊं। संसार चक्र की गति ही ऐसी है कि अँधेरे उजेले के आवर्तन प्रत्यावर्तन होते ही रहेंगे। अतएव किसी के पास यदि गुणशक्ति अथवा क्रियानिष्टा है तो यह हो नही सकता कि उसे कभी अवसर ही न मिले। हाँ, उसके भाग्य ही एकदम फूट गये हों तो बात दूसरी है। अवसर और योग्यता का मणिकांचन संयोग जब बरसों तक नहीं जुड़ पाता तब इनका वैपम्य मनुष्य को निश्चय ही खल जाता है। उसे ही मानव जीवन की 'ट्रेजेडी' समझ लीजिए। परन्तु ट्रेजेडी को मैंने सदैव ही अपवाद माना है न कि समष्टि जीवन का नियम।

जीवन के चढ़ाव मे तो नही किन्तु मध्याह्न में मुझे ऐसा भासित होने लगा कि निष्क्रिय जीवन बिताना जीवनप्रदाता के प्रति अपराध है। वस्तुतः सक्रियता ही का नाम तो जीवन है। अतएव मनुष्य को कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिए। और जो कुछ उसे करना है उसे वह मन लगाकर करे न कि वेगार समझकर। तभी उस क्रिया में उसे रस मिल सकता है। वकालत और तदनन्तर रियासती अफसरी के पद तो मेरे लिए व्यवसाय रहे और साहित्य सर्जना तथा विविध लोक सेवक संस्थाओं में कार्य करना, कालक्षेप के साधन। परन्तु दोनों ही क्षेत्रों में मुझे समान मनोरंजन मिला। थकान किसी भी क्षेत्र में मैंने कभी जानी ही नहीं। रायगढ़ की लगभग अठारह साल की नौकरी में मैंने एक महीने की भी छुट्टी नहीं ली और रियासती झंझटों तथा राजा साहब के निजी कौतूहलों की पूरी व्यवस्था करते हुए भी मैंने दर्जनों पुस्तकें लिखीं, विश्वविद्यालय तथा साहित्य सम्मेलन सरीखी संस्थाओं के अनेकों दायित्वपूर्ण पद सँभाले, और 'तुलसी दर्शन' सरीखा गवेपणात्मक निबन्ध लिखकर सर्वोच्च आचार्य (डी० लिट्०) की उपाधि प्राप्त की। रायगढ़ से हटने पर भी उस सक्रियता ने अनेकानेक संस्थाओं का संचालन मुझसे कराया और रायपुर से बिलासपुर पहुँचाया। बिलासपुर महाविद्यालय के प्राचार्यत्व से अलग होकर जब मैं रुग्णावस्था में अपेक्षाकृत निष्क्रिय जीवन बिता रहा था तब प्रदेश के

मुख्य मंत्री श्रद्धेय पं० रविशंकर जी शुक्ल ने आग्रहपूर्वक मुझे भारत सेवक समाज का अवैतनिक कार्य दिलाया जिससे प्रदेश संयोजक तथा केन्द्रीय बोर्ड के सदस्य के नाते मैं बरसों सम्बद्ध रहा। यह कार्य साहित्य साधना के लिए विशेष अवसर नहीं दे रहा है परन्तु सक्रियता को सन्तुष्टि देकर यह मेरी रुग्णावस्था को भुलाने तथा हटाने में अच्छा सहायक सिद्ध हुआ है। बरसों धुँधुवाते रहने की अपेक्षा एक क्षण के लिए प्रज्ज्वलित हो उठने को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। भले ही फिर सदा के लिए बुझ जाना पड़े।

समाज सेवा का क्षेत्र होता है बड़े झंझटों से भरा हुआ। राजनीति का क्षेत्र तो उससे भी अधिक झंझटपूर्ण है। यों तो कार्यपालनाधिकारी रहकर मैं जान चुका हूँ कि व्यवहार नीति में कैसे-कैसे तिकड़म खेलने पड़ते हैं। परन्तु कुछ मन की प्रवृत्ति ने और कुछ ईश्वरदत्त परिस्थिति ने मुझे सक्रिय दलगत राजनीति से अब तक बचाये रखा है। दलगत राजनीति हो गयी है येनकेन प्रकारेण केवल दुर्गा की आराधना। स्वार्थ की इतनी प्रमुखता राजनीतिज्ञ के मन में हो जाती है कि वह प्रायः हरएक बात उसी दृष्टिकोण से देखा और सोचा-समझा करता है। कोई पिछली सेवाएँ कर चुका है यह बात सुविधा-पूर्वक भुलाकर राजनीतिज्ञ उस व्यक्ति से मित्रता का निर्वाह प्रायः इसी आधार पर करता है कि भविष्य में वह कहाँ तक उपयोगी अथवा लाभकारी सिद्ध हो सकेगा। मेरे कुछ घनिष्ठ राजनीतिज्ञ मित्रों ने मेरे साथ भी ऐसा ही व्यवहार दिखाया है जो अन्यों को अटपटा भले ही लगा हो किन्तु मुझे तो वह राज-नीतिज्ञ के स्वाभाविक अनुरूप ही जान पड़ा है। "शुष्कं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः भ्रष्टश्रियं मंत्रिणः—तत्कस्य को वल्लभः"। परन्तु फिर भी राजनीतिज्ञ की शरण जाना व्यवहार-साधना में अनिवार्य हो जाता है क्योंकि उसके श्याम पक्ष के साथ उसका उज्ज्वल पक्ष भी तो होता है जो उसके द्वारा अनेक उपयोगी कार्य कराता रहता है। इसी उज्ज्वल पक्ष के लिए सज्जन लोग भी राजनीति में घुसा करते हैं। जो संघर्षपटु होकर व्यवस्थापटु भी हो और "मौने मौनी, गुणिनि गुणवान्—योऽवधूतेऽवधूतः" बन सके, वही सफल राज-नीतिज्ञ है। समाज सेवक के लिए इतना पटु होने की आवश्यकता नहीं। फिर भी उसमें राजनीतिज्ञ की भाँति अपमानों का हलाहल पीने की क्षमता तो रहनी ही चाहिए। गैर जिम्मेदार आलोचनाओं का प्रसाद तो उसके लिए भी सदैव तैयार रहता है। हरएक व्यक्ति यह चाहने लगता है कि उसके उचित अनुचित सब तरह के स्वार्थ उस समाज सेवक द्वारा सधते रहें और यदि उनमें कुछ भी विलम्ब हुआ तो समाज सेवक को व्यंग्य-बाण सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। यह क्या कुछ कम झंझट की बात है ? समाज सेवक अपना समय दे, अपने साधन दे और जगह-जगह भटकता फिरे, और पुरस्कार में सब तरह

के लांछन सहने को तैयार रहे। परन्तु समाज सेवक के इस जीवन में भी राज-नीतिक के जीवन की सी एक ऐसी मादकता है कि जो एक बार इसका रस चख लेता है वह इसके सब झंझटों को सहर्ष सहने के लिए तैयार हो जाता है। वह कच्चा है तो विविध प्रकार के सम्मानों के प्रलोभन उसे इस ओर खींचेंगे और यदि वह पक्का होकर मान-अपमान से ऊँचा उठ चुका है तो निष्काम कर्म के सिद्धान्त उसे इस ओर खींचेंगे। आखिर जन-सेवा ही तो जनार्दन-सेवा है। मनुष्य समाज सेवा न करे तो और क्या करे ?

समाज सेवा के सम्बन्ध में अपनी-अपनी भावनाएँ अलग-अलग हो सकती हैं। किसी को परोक्ष रूप से समाज सेवा प्रिय है, किसी को प्रत्यक्ष रूप से। कोई प्रवृत्ति मार्ग में समाज सेवा देखता है कोई निवृत्ति मार्ग में। कोई आत्म-कल्याण में विश्वकल्याण मानता है, कोई आत्मत्याग में। कोई सर्वविध स्वतन्त्र रहकर सेवा करने का विश्वासी है, कोई एक सुसंगठित संस्था द्वारा अनुशासित होकर सेवा करना अधिक लाभप्रद समझता है। कोई पद, प्रतिष्ठा, धन, यश आदि के लालच से सेवा में प्रवृत्त होता है, कोई विशुद्ध अन्तःकरण की प्रेरणा से ही निर्हेतुक सेवा किया करता है। यह अपनी-अपनी सूझ-बूझ की बात है। मुख्य तो है समाज सेवा में प्रवृत्त होना। मैंने तो समाज सेवा का अपना जो वर्तमान ढंग अपनाया है वह विशेषकर चिकित्सकों के परामर्श से, क्योंकि तीन वर्षों की लम्बी बीमारी के बाद मेरे चिकित्सकों ने मुझे राय दी थी कि मैं अब दिमागी काम कम और दौड़-धूप (घूमने-फिरने) ही का काम ज्यादा देखूँ। अन्यथा लम्बे अरसे से चली आ रही मेरी साहित्य साधना भी तो एक प्रकार की समाज सेवा ही थी।

समाज सेवा के अपने कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका स्मरण करके मैं निश्चय ही सन्तोष की साँस ले सकता हूँ। करने वाला तो परमात्मा रहता है, हम लोग तो केवल निमित्त मात्र रहा करते है। और, मैंने यह अनुभव किया है कि जो सत्संकल्प होता है वह अपनी जड़ें आप ही सुदृढ़ करता चलता है। उसे किसी व्यक्ति विशेष की अनिवार्य आवश्यकता नहीं रहा करती। इसी प्रकार संस्थाएँ भी अपनी वृद्धि आप ही करती चलती हैं। फिर भी किसी मनुष्य का यदि उसमें किसी प्रकार का सहयोग रहा तो उसे सन्तोष का आनन्द तो मिल ही जाता है। रायगढ़, खरसिया, रायपुर और राजनाँदगाँव के नगरों के सामान्य विकास में, विशेषतः दानवीर सेठ किरोड़ीमल जी को रायगढ़ में बसाने में; वहाँ की अनाथालय सरीखी संस्थाओं की नींव डालने और विदेशी मिश-नरियों के शिकंजों से लोगों को बचाने में; रायपुर के कान्यकुब्ज छात्रालय और मध्यप्रदेश के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जीर्णोद्धार में; बिलासपुर, रायपुर और राजनाँदगाँव के कालेजों की स्थापना में; श्री शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ सरीखी

वस्तुओं के प्रणयन में; प्रवचनों और चर्चाओं द्वारा प्रदेश और देश की तरुण मण्डली को सांस्कृतिक सन्देश देने में; अनेक कुटुम्बों की शान्ति स्थापना में; तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों में मेरा जो भी सहयोग रहा है तथा मेरी जो भी प्रेरणाएँ रही हैं उन्हें मैं एकदम भुला नहीं सकता। हाँ, यह आवश्यक है कि उनके कारण मुझे गर्विष्ठ भी न होना चाहिए। मेरे गर्व पर तो परमात्मा ने उसी दिन करारी चोट मारी थी जिस दिन रायगढ़ में मुझे एक हिंसक पेशावरी पर गोली चलाने का हुक्म देना पड़ा था। मैंने संकल्प किया था कि सेशन जजी के अपने कार्यकाल में मैं किसी को फाँसी की सजा न दूँगा और यह कार्य ईश्वर ही पर छोड़ रखूँगा। यह मेरा गर्व ही तो था अन्यथा न्याय वितरण की परिस्थिति में इस प्रकार के पूर्व-निर्णय का अर्थ ही क्या होता है। परमात्मा ने मेरी लाज किसी प्रकार रख ली और मुझे दस वर्षो की सेशन जजी के लम्बे कार्यकाल में किसी को फाँसी पर टाँगना न पड़ा, यह दूसरी बात है। परन्तु गर्व पर तो उसने प्रहार किया ही।

इस समय मैं अपने सब कार्यो में रामनाम वितरण के कार्य को ही सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ। दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को दूर करने के लिए प्रभु का नाम ही एकमात्र अव्यर्थ महोपधि है, यह निश्चय मेरे मन में दिन प्रतिदिन प्रबल होता जा रहा है। केवल श्रद्धा के सहारे ही नहीं, किन्तु तर्क के सहारे भी यही सिद्धान्त दृढ़ होता जा रहा है। भारतीयों के लिए तो रामनाम विलक्षण शक्तिशाली है। यों गायत्री आदि मंत्र भी अपने अर्थ और प्रभाव में महामहिम है किन्तु रामनाम किसी मंत्रराज से कम नहीं। रामचरितमानस उसी रामनाम की विशद व्याख्या है। अतएव रामचरितमानस के सच्चे प्रचार ही को मैं सबसे बड़ी समाज सेवा समझता हूँ। नागपुर विश्वविद्यालय की, और प्रदेश के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय पं० रविशंकर जी शुक्ल की सक्रियता इस सम्बन्ध में मेरी बड़ी सहायक हुई है। और अब तो राष्ट्रपति श्रद्धेय डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद महोदय के आकर्षण से इस सम्बन्ध में मेरे लिए न केवल राष्ट्रपति भवन के ही किन्तु देश के प्रमुख प्रतिष्ठित कर्णधारों के द्वार भी उन्मुक्त हो गये है।

साहित्य साधना

अपनी साहित्यिक कृतियों की चर्चा करने के पहिले एक छोटी-सी घटना की चर्चा कर दूँ। मैं बहुत छोटा था। मेरे एक शिक्षक पुराने पीपल के पेड़ के नीचे एक मकान में रहते थे। वे भूत-प्रेत कुछ न मानते थे। यों आकृतिधारी भूत-प्रेत तो मैंने भी आज तक कभी नहीं देखे परन्तु मेरे मन में उनके अस्तित्व के संस्कार अवश्य थे। शिक्षक महोदय ने एक रात कथा सुनायी कि एक गाड़ीवान जंगल से होकर जा रहा था। उसने चर्रचूँ-चर्रचूँ की आवाज सुनी और

सामने एक सफेद ऊँची-ऊँची आकृति देखकर भूत का निश्चय कर बैठा। आगे बढ़ने पर उसे विदित हुआ कि आकृति तो एक पुराने वृक्ष के ठूंठ की थी और चर्रचूं-चर्रचूं की आवाज उसकी ही गाड़ी के पहियों की थी जो तेल सूख जाने के कारण घिसने लग गये थे। पूर्व संस्कारों के कारण मैंने चर्रचूं-चर्रचूं की आवाज और ऊँची-ऊँची आकृति का ही ध्यान रखा और शेष बातों का दुर्लक्ष्य करके एक वैसे ही भूत की कल्पना कर ली जिसका निवास भी मैंने उस पीपल के पेड़ पर मान लिया और उससे आतंकित होकर कई दिनों के लिए बीमार भी पड़ गया। आगे चलकर मैंने सोचा कि क्या यथार्थवादी साहित्य में इस तरह का खतरा नहीं है। जहाँ सामाजिक दुराचार का रसमय वर्णन हो, वहाँ परिणाम भले ही अच्छा अंकित किया जाय परन्तु यौन प्रवृत्तियों वाला अनुभवहीन युवक तो उस रसमय वर्णन को ही सब कुछ समझने लगेगा और परिणाम की ओर दुर्लक्ष्य कर देगा। मैंने अनुभव किया कि समाज तक पहुँचने वाली माध्यम रूपा लिपियुक्त शब्दावली का सहारा लेकर जो लेखक अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है उसे उस समाज की मनःस्थिति और उसके हित का ध्यान रखना ही होगा। ऐसा लेखक भावाभिव्यक्ति में पूर्ण स्वतंत्र रह ही नहीं सकता। अपनी रचनाओं का मानदण्ड मुझे इसी दृष्टिकोण से निश्चित करना पड़ा और अपनी प्राथमिक रचना 'शृंगार शतक' को प्रकाशित करने मे मुझे इसीलिए कई बार झिझक हुई थी तथा उसके परिमार्जन के लिए 'वैराग्य शतक' आदि लिखने पड़े थे।

पिताजी में साहित्य प्रेम था ही और उन्होंने व्रजभाषा के कुछ कवि भी अपने यहाँ रख छोड़े थे। मुझे अपनी पाठशाला में भी कुछ साहित्यप्रेमी शिक्षकों और सहपाठियों का साथ मिला। परन्तु साहित्य रचना की मेरी प्रवृत्ति तब तक नहीं जागी जब तक मैं कालेज नहीं गया। विशारद की परीक्षा के सिलसिले में व्रजभाषा के अनेक उत्कृष्ट काव्य पढ़ने पड़े थे और खड़ीबोली की 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती', 'प्रिय प्रवास' आदि रचनाएँ भी सामने आ रही थीं। अतएव मैंने भी व्रजभाषा के अनेक शतक लिख डाले और खड़ीबोली में वह ग्रन्थ प्रारम्भ कर दिया जो पीछे 'कोशल किशोर महाकाव्य' के नाम से छपा। व्यवसाय बुद्धि से मैंने कभी साहित्य रचना नहीं की। जो कुछ लिखा, अपनी मौज में लिखा। इसीलिए न तो मैंने युग की माँग का ठीक से विचार रखा न अपनी रचनाओं के प्रकाशन और उनकी खपत का ही कोई समुचित प्रबन्ध किया। यह त्रुटि अब तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

पद्य लिखने में एक तो मैं गंभीर अध्ययन अथवा चिन्तन की विशेष आवश्यकता न समझता था, दूसरे उसमें अपेक्षाकृत समय भी बहुत कम लगता था, और तीसरे चलती गाड़ी अथवा हाथी जैसी हिलती सवारियों पर भी

बैठकर यह आँका जा सकता था, अतएव मैंने अपनी साहित्य साधना पद्यों ही से प्रारम्भ की। जबलपुर का 'मदन महल' देखकर उसी से श्रीगणेश किया और श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी से प्रोत्साहन पाकर 'सुमन' द्वारा 'सरस्वती' के पृष्ठों में प्रविष्ट हुआ। गद्य में तो उस समय कलम चली जब, सन् बीस और बाईस के बीच, मैं अपने जन्म स्थान राजनाँदगाँव में राष्ट्रीय उच्च विद्यालय चला रहा था और उसी सिलसिले में अन्य राष्ट्रीय कार्यों के साथ यहाँ से 'अरुणोदय' और रायपुर में 'सूर्योदय' नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिकाएँ निकाली थीं। अरुणोदय का ही एक विशेषांक 'साहित्य लहरी' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की रस-वार झाँकी है।

जब मैंने रायपुर में वकालत की तख्ती टाँगी तब मेरे पास अवकाश ही अवकाश था। एक दिन बातों-बातों में मैं नाटककार बन गया और हफ्ते भर में 'शंकर दिग्विजय' पूरा कर दिया जो अब 'क्रान्ति' नाम से प्रकाशित है। वही सिलसिला रायगढ़ के प्रारम्भिक दिनों में भी चला और वहाँ 'असत्य संकल्प', 'वासना वैभव', 'मृणालिनी परिणय' (राजा चक्रधरसिंह जी की सन्तुष्टि के लिए) और 'समाज सेवक' सरीखे नाटक लिखे गये। बदरीश यात्रा के अनन्तर ही 'गीतासार' और 'जीव-विज्ञान' सरीखे ग्रन्थ तैयार हुए जिनमें 'जीव-विज्ञान' तो बहुतों को बहुत पसन्द भी आया। इन्हीं दिनों कुछ अनुवादों के लिए भी प्रेरणा मिली और श्रीमान् राजा साहब की सन्तुष्टि के लिए 'अमरुक शतक' तथा मित्रबन्धु आनन्द मोहन बाजपेयी की सन्तुष्टि के लिए मैंने 'मादक प्याला' के नाम से उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद किये। आगे चलकर रायपुर में एक महाराष्ट्र मित्र की सन्तुष्टि के लिए 'मनाचे श्लोक' का पद्य अनुवाद 'हृदय बोध' नाम से और बिलासपुर में अपने विद्यार्थियों की सन्तुष्टि के लिए सांख्यकारिका का अनुवाद 'सांख्य बोध' नाम से तैयार किया। 'ज्योतिष प्रवेशिका' भी कुछ उसी ढंग की वस्तु है।

यों तो 'शतक' भी मुक्तक थे और पद्यानुवाद भी मुक्तक ही कहे जायँगे परन्तु मुक्तकों का सिलसिला वहीं नहीं समाप्त हुआ। खड़ीबोली में भी दो मुक्तक तैयार हुए। एक है 'छायाकुण्डल' जिसमें बाबा दीनदयाल गिरि की सी कुण्डलियाँ है, पर कुछ आधुनिकता लिये हुए, और दूसरा है 'जीवन संगीत' जिसमें मानव जीवन का तत्त्वदर्शन काव्य के मार्ग से स्पष्ट कराने का प्रयत्न किया गया है। 'आँसू' के छन्दों में उल्लास का सन्देश देने वाला है यह मुक्तक संग्रह। इसके बाद के दो मुक्तक और भी हैं। एक है मेरी हास्यरस वाली रचनाओं का संग्रह 'व्यंग्य विनोद' और दूसरा है मेरी अन्य सामान्य रचनाओं का संग्रह जिसे 'अन्तः स्फूर्ति' नाम दिया गया है। इसी में वे

उत्साहवर्धक कविताएँ हैं जो नवयुवकों को विशेष प्रिय लगी हैं। (हाल ही में 'जीवन संगीत' के ढंग पर 'उदात्त संगीत' की रचना हो गयी है। विविध विषयों पर कुछ फुटकर छन्द भी हैं जो 'अन्तः स्फूर्ति' के समान प्रकाश में आने की अपेक्षा कर रहे हैं।)

रायगढ़ के अन्तिम वर्षों में संयोगवश मैं रामचरितमानस की ओर आकृष्ट हुआ और उसके बाद ही डी०लिट्० की उपाधि दिलाने वाला 'तुलसी-दर्शन' नामक निबन्ध तैयार हुआ। इसका इतिहास बड़ा रोचक है। वस्तुतः ईश्वरीय प्रेरणा ने ही घेरघारकर वह निबन्ध मुझसे तैयार करवा लिया और उसे निमित्त बनाकर डी०लिट्० की सर्वोच्च उपाधि मुझ पर मढ़ दी। उसी की अनुसंधान-सामग्री लेकर 'मानस मन्थन' नामक ग्रन्थ छपा। आगे चलकर इसी शाखा के अन्य अनेक ग्रन्थ तैयार हुए। प्रथम तो 'कोशल किशोर' की जोड़ का एक अन्य काव्य 'साकेत सन्त' तैयार हुआ, जिसमें महाकाव्य पद्धति का भरत का पद्यबद्ध चरित्र है। फिर 'मानस में रामकथा' नामक पुस्तक लिखी गयी जिसका उद्घाटन समारम्भ कलकत्ते के मित्रों ने बड़ी धूमधाम से किया। फिर 'भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास जी का योगदान' नामक व्याख्यानमाला छपी जिसे नागपुर विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया। फिर 'मानस के चार प्रसंग' में कुछ कवित्तों का सग्रह छपा, 'सुन्दर सोपान' में सुन्दर काण्ड विषयक टीका छपी और 'मानस माधुरी' में प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर दिये गये भाषणों का संग्रह निहित हुआ। आश्चर्य है कि हाल-हाल में 'रामराज्य' नामक एक तीसरा महाकाव्य भी तैयार हो गया है और 'मानस रामायण' नाम से रामकथा के आध्यात्मिक पक्ष की एक पुस्तिका भी।

१९४० में कुछ दिनों तक मुझे राजकुमार कालेज के राजकुमारों को प्रशासन विषयक पाठ भी देने पड़े थे। उन्हें 'व्हाट ए रूलर शुड नो' (शासक इतना तो जाने) शीर्षक से अंग्रेजी में पुस्तकाकार छपवा चुका हूँ। इसी बीच मैंने विविध स्मृतियों का आलोड़न विलोड़न करके भारतीय आचार शास्त्र पर एक और ग्रन्थ लिखा जिसका नाम रखा 'हमारी राष्ट्रीयता' अथवा 'मिश्र स्मृति'। स्मृतियों की परिपाटी पर लिखा गया यह स्मृति ग्रन्थ कहीं शीघ्र ही विस्मृति के गर्भ में न चला जाय इसलिए उसे 'भारतीय संस्कृति' नामक अपने एक अन्य ग्रन्थ में परिशिष्ट रूप से जोड़ चुका हूँ।

उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र मैंने बिलकुल न छुए हों यह बात नहीं है। परन्तु मेरी प्रवृत्तियाँ तो पद्यों की ओर रहीं या चिन्तनप्रधान निबन्धों की ओर। अतएव एक उपन्यास अधूरा ही रह गया और कहानियाँ तीन-चार से आगे न बढ़ पायीं। 'छत्तीसगढ़ परिचय' को अलबत्ता पाठकगण चाहे कहानी

संग्रह कह लें चाहे इतिहास। है वह ग्रन्थ दोनों के मध्य की वस्तु। यों तो गद्यात्मक वस्तुएँ और भी हैं—'ईश्वर निष्ठा', 'बिखरे विचार', 'निबन्ध संग्रह' आदि—परन्तु वे पुस्तकाकार अब तक प्रकाशित नहीं हो पायी हैं।

लेखक की साहित्य साधना एक तो लेखक को निर्माता बनाने की आत्म-तुष्टि देती है; दूसरे वह उसके नाम और यश के लिए देश तथा काल की सीमाओं को अपेक्षाकृत विस्तृत कर देती है; तीसरे वह लोकसेवा की सहायभूता होते हुए भी भावयोग की अंगभूता होकर आनन्द ब्रह्म की उपलब्धि में अच्छी सहायक सिद्ध हो सकती है। अतएव कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि से किसी प्रकार कम रोचक नहीं। परन्तु इस प्रकार की साहित्य साधना का भी एक समय हुआ करता है। जब दिमाग थक जाता है तब निर्माण की प्रक्रिया स्वभावतः शिथिल हो जाया करती है। सठियाने की मेरी इस स्थिति में यह शिथिलता एकदम स्वाभाविक हो गयी है। फिर भी लेखक की साहित्य साधना न सही पाठक की साहित्य साधना और मन ही मन गुनगुना लेने वाला उसका आनन्द तो यह वार्धक्य भी मुझसे छीन नहीं सकता। राम का नाम स्वतः एक ऐसा साहित्य है जिसे गुनगुनाते रहने के लिए अवस्था का कोई प्रतिबन्ध लग ही नहीं सकता। इस अवस्था में अब मेरा यही संबल है। आगे की बात भगवान् जाने।

[डाक्टर साहब की 'मेरे संस्मरण' नामक लेखमाला से]

(ख)

साहित्यिक कृतित्व

१

डाक्टर साहब द्वारा लिखित तथा सम्पादित पुस्तकों की सूची

१. **शंकर दिग्विजय** (नाटक)—सन् १९२३ में प्रकाशित। एम० ए० में पाठ्य रही।
२. **शृंगार शतक** (ब्रजभाषा मुक्तक)—सन् १९२८ में प्रकाशित।
३. **वैराग्य शतक** (ब्रजभाषा मुक्तक)—सन् १९२८ में प्रकाशित।
४. **असत्य संकल्प** (नाटक)—सन् १९२८ में प्रकाशित। स्कूलों में पाठ्य।
५. **वासना वैभव** (नाटक)—सन् १९२८ में प्रकाशित। स्कूलों में पाठ्य।
६. **जीव-विज्ञान** (मानस शास्त्र पर गवेषणात्मक निबन्ध)—सन् १९२८ में प्रकाशित। सम्मेलन में पाठ्य।
७. **मादक प्याला** (खैयाम का पद्यानुवाद)—सन् १९३२ में प्रकाशित।
८. **समाज सेवक** (नाटक)—सन् १९३२ में प्रकाशित। स्कूलों में पाठ्य।
९. **मृणालिनी परिणय** (नाटक)—सन् १९३२ में प्रकाशित।
१०. **साहित्य लहरी** (हिन्दी साहित्य के इतिहास का सिंहावलोकन)—सन् १९३४ में प्रकाशित। पुरस्कृत।
११. **गीता सार** (गद्य)—सन् १९३४ में प्रकाशित।
१२. **कोशल किशोर** (महाकाव्य)—सन् १९३४ में प्रकाशित।
१३. **तुलसी दर्शन** (डी० लिट्० का स्वीकृत शोध प्रबन्ध)—सन् १९३८ में प्रकाशित। एम० ए० में पाठ्य।
१४. **मानस मन्थन** (उपर्युक्त शोध प्रबन्ध की सामग्री)—सन् १९३९ में प्रकाशित।
१५. **क्रान्ति** (नाटक—'शंकर दिग्विजय' का रूपान्तर)—सन् १९३९ में प्रकाशित।
१६. **जीवन संगीत** (मुक्तक पद्य)—सन् १९४० में प्रकाशित। एफ़० ए० में पाठ्य।
१७. **काव्य कलाप** (आलोचनात्मक संकलन)—सन् १९४२ में प्रकाशित। एफ़० ए० में पाठ्य।
१८. **व्हाट ए रूलर शुड नो** (अंग्रेजी में)—सन् १९४३ में प्रकाशित।

१९. **सुमन** (निबन्धों का संकलन)—सन् १९४४ में प्रकाशित। मैट्रिक में पाठ्य।
२०. **साकेत सन्त** (महाकाव्य)—सन् १९४६ में प्रकाशित। बी० ए० तथा एम० ए० में कछ ग्रंश पाठ्य।
२१. **हमारी राष्ट्रीयता** (ग्रनुष्टुप छन्दों में स्मृति ग्रन्थ)—सन् १९४८ में प्रकाशित।
२२. **हृदय बोध** ('मनांचे श्लोक' का पद्यानुवाद)—सन् १९५१ में प्रकाशित।
२३. **स्वग्राम गौरव** (पूर्वजों के जन्मग्राम का पद्यात्मक वर्णन)—सन् १९५१ में प्रकाशित।
२४. **उमर खैयाम की रुबाइयाँ** (परिवर्तित एवं परिवर्धित)—सन् १९५१ में प्रकाशित।
२५. **भारतीय संस्कृति** (गद्य)—सन् १९५२ में प्रकाशित।
२६. **मानस में रामकथा** (गद्य)—सन् १९५२ में प्रकाशित।
२७. **भारतीय संस्कृति की रूपरेखा** (गद्य—संक्षिप्त)—सन् १९५२ में प्रकाशित।
२८. **अंतः स्फूर्ति** (स्वतः के मुक्तक पद्यों का संग्रह)—सन् १९५४ में प्रकाशित।
२९. **कोशल किशोर** (संक्षिप्त एवं संशोधित)—सन् १९५५ में प्रकाशित।
३०. **साकेत संत** (संक्षिप्त एवं संशोधित)—सन् १९५५ में प्रकाशित।
३१. **छत्तीसगढ़ परिचय** (इतिहास पर ग्राधारित कहानियाँ)—सन् १९५५ में प्रकाशित। मैट्रिक में पाठ्य।
३२. } **काव्य कल्लोल** (२ भाग)—(प्राचीन एवं ग्रर्वाचीन कवियों का
३३. } ग्रालोचनात्मक संकलन)—सन् १९५५ में प्रकाशित। बी० ए० ग्रादि परीक्षाग्रों में पाठ्य।
३४. **साहित्य संचय** (निबन्ध संकलन)—सन् १९५५ में प्रकाशित।
३५. **भारतीय संस्कृति को गोस्वामीजी का योगदान** (गवेषणात्मक भाषण-माला)—विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित।
३६. **मानस के चार प्रसंग** (कवित्तों में वर्णन)—सन् १९५५ में प्रकाशित।
३७. **मानस माधुरी** (रामचरितमानस का विविध दृष्टियों से ग्रालोचनात्मक ग्रध्ययन)—सन् १९५८ में प्रकाशित। पुरस्कृत।
३८. **श्याम शतक** (व्रजभाषा मुक्तक)—सन् १९५८ में प्रकाशित। पुरस्कृत।
३९. **मानस रामायण** (रामकथा का ग्राध्यात्मिक विवेचन पद्य में)—१९५९ में प्रकाशित।
४०. **रामराज्य** (महाकाव्य)—सन् १९६० में प्रकाशित। पुरस्कृत।
४१. **व्यंग्य विनोद** (हास्यरसात्मक मुक्तक पद्य)—सन् १९६१ में प्रकाशित।

अन्य ग्रन्थ

४२ से } **सरल पाठमाला** (५ भाग)—१९४२। रियासती प्राइमरी स्कूलों में
४६. } पाठ्य रहीं।

४७. **संक्षिप्त अयोध्या काण्ड** (सम्पादन)—प्रकाशित १९५७। मैट्रिक में पाठ्य ग्रंथ।

४८. **छत्तीसगढ़ी लोक जीवन**—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

४९. **हमारा गाँव**—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५०. **भगवद्‌गीता** (संक्षिप्त गद्यात्मक विवेचन)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५१. **सुराज्य और रामराज्य** ('मानस माधुरी' का अंश)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५२. **मानस की सूक्तियाँ** ('मानस माधुरी' का अंश)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५३. **रघुनाथ गीता** ('मानस माधुरी' का अंश)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५४. **राम का व्यवहार** ('मानस माधुरी' का अंश)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५५. **मानस में उक्ति सौष्ठव** ('मानस माधुरी' का अंश)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९५८।

५६. **उत्तम निबन्ध** (संकलन)—पुस्तिका रूप में प्रकाशित १९६२।

५७. **छाया कुण्डल** (मुक्तक पद्य)—लेखमाला रूप में प्रकाशित १९३२।

५८. **ईश्वर निष्ठा** (अंग्रेजी ग्रन्थ का भावानुवाद)—लेखमाला रूप में १९५०।

५९. **ज्योतिष प्रवेशिका** (पद्यात्मक लघु ग्रन्थ)—लेखमाला रूप में १९५२।

६०. **सुन्दर सोपान** (सुन्दर काण्ड की टीका)—लेखमाला रूप में प्रकाशित १९५७ से ५९।

६१. **बिखरे विचार** (लेखमाला रूप में प्रकाशित)—१९५० से ६० तक।

६२. **अमर सूक्तियाँ** ('अमरुक शतक' का पद्यानुवाद)—अप्रकाशित।

६३. **सांख्य-तत्त्व** ('सांख्य-कारिका' का पद्यानुवाद)—अप्रकाशित।

६४. **नरेश शतक** (वीर रसात्मक ब्रज पद्य मुक्तक)—अप्रकाशित।

६५. **सरोज शतक** (अन्योक्तिपरक ब्रज पद्य मुक्तक)—अप्रकाशित।

६६. **आउटलाइन्स आव हिन्दुइज्म** (अंग्रेजी में)—अप्रकाशित।

६७. **मेरे संस्मरण** (जीवनी से सम्बन्धित लेखमाला)—कुछ अंश प्रकाशित।

६८. **प्रचार गीत** (भारत सेवक समाज केन्द्रीय कार्यालय के लिए स्वरचित पद्य संग्रह)—अप्रकाशित।

६९. **छत्तीसगढ़ का जनपदीय साहित्य** (निबन्ध)—अप्रकाशित ।
७०. **संस्कृत साहित्य सौरभ** (संस्कृत ग्रन्थों से सम्बन्धित विविध लेख)—अप्रकाशित ।
७१. **मानस मुक्ता** (रामचरितमानस विषयक लेख संग्रह)—अप्रकाशित ।
७२. **विनोदी लेख** (लेखक के मनोरंजक लेख)—अप्रकाशित ।
७३. **रोचक यात्राएँ** (लेखक के यात्रा सम्बन्धी लेख)—अप्रकाशित ।
७४. **जन जातियों में** (लेखक के तद्विषयक लेखों का संग्रह)—अप्रकाशित ।
७५. **हिन्दी भाषा और साहित्य** (लेखक के लेखों का संग्रह)—अप्रकाशित ।
७६. **कथा संग्रह** (लेखक की कहानियों आदि का संग्रह)—अप्रकाशित ।
७७. **पुराण विज्ञान** (पौराणिक गाथाओं की प्रतीकात्मकता का विश्लेषण)—अप्रकाशित ।
७८. **काव्य संग्रह** ('अन्तः स्फूर्ति' के पूरक रूप में)—अप्रकाशित ।
७९. **उदात्त संगीत** ('जीवन संगीत' के ढंग की नूतन पद्य रचना)—अप्रकाशित ।
८०. **तुलसी शब्द-सागर** (सम्पादक मण्डल में सम्मिलित) प्रकाशित ।

नोट—इन पुस्तकों के अतिरिक्त 'मन्मथ मन्थन' (ब्रजभाषा पद्य), 'श्रृंगार सार' (गवेषणात्मक निबन्ध), 'संसार सागर' (व्यंगात्मक उपन्यास), 'विमला देवी' (ऐतिहासिक एवं आंचलिक उपन्यास) आदि पुस्तकें अधूरी लिखी पड़ी हैं तथा अनेक गद्यपद्यात्मक लेख इधर-उधर की मासिक पत्रिकाओं अथवा पत्रों के विशेषांकों में बिखरे पड़े हैं ।

२

पद्य भाग के नमूने

डाक्टर साहब के तीनों महाकाव्यों से

'कोशल किशोर' महाकाव्य का एक अंश

साँझ-सवेरा

जनक सदृश दिन ने पहिले
थी जीवन-चर्या-विधि बतलाई।
जननी सदृश निशा तब
सबको अपनी गोद खिलाने आई।
विभु के न्याय समान सूर्य ने
जिस भू पर सत्पथ दिखलाया।
उसकी दया समान चन्द्र ने
आकर सुधा - सुरस बरसाया ॥ १ ॥

झिलमिल-झिलमिल झलक दिखाते
क्रम-क्रम से तारकगण आये।
सांध्य - वनश्री - छवि लखने को
मानो नभ ने नयन खिलाये।
इधर वनश्री ने भी खोलीं
अपनी जुगनू वाली आँखें।
हुई हजार - हजार चार यों
दोनों ओर निराली आँखें ॥ २ ॥

इसकी आँखें उसकी आँखें,
देखे नर किस किस की आँखें।
पाई मद से भरी हुई ही
देखीं बस जिस जिस की आँखें।

कैसी थी झाँकी निसर्ग की
फँस जातीं आँखें छुट-छुटकर।
उठने की थी देर, गया, बस,
आँखों आँखों में मन लुटकर॥ ३॥

तारे क्या थे? मनुजों के आदर्श-
चरित थे नभ में भाते।
अथवा प्रकृति-प्रेमियों के मन
जग-जगकर थे रात जगाते।
नभ-दर्पण पर जुगनू गण की
छाया तारे बनकर छाई।
अथवा अमरपुरी की दैनिक
दीपमालिका दी दिखलाई॥ ४॥

झाँक रही थीं सुर सुन्दरियाँ
वा निज निज गवाक्ष-जालों से।
छलक रहे थे सुधा बिन्दु या
सुरगण के मादक प्यालों से।
रवि-किरणें ही अथवा आई
जगदर्शन को तारे बनकर।
अथवा लगा उदधि में गोते
रवि ने फेंके मोती नभ पर॥ ५॥

हुआ मृदुल ज्योत्स्ना से पूरित
धरती तल शीतल सुखसाना।
बना और भी शान्त कान्त जब
वह बन प्रान्त मधुर मनमाना।
तब अधिकार किया आँखों पर
आकर निद्रा निशा-सखी ने।
रख प्रभात में बन विहरण पर
चाव, किया विश्राम सभी ने॥ ६॥

अरे! कहाँ विश्राम यहाँ
जब खाकर अटल कर्म का कोड़ा।

भाग रहा था जग पर बेबस
प्रतिपल दिवस निशा का जोड़ा।
कैसा है यह जोड़, भाग्य में
भागा भागी ही मिल पाई।
रजनी उड़ी दिवस आया फिर
दिवस ढला तब रजनी आई॥ ७॥

नहीं, नहीं, अनुचित विचार यह
हैं संकीर्ण दृष्टि के कोने।
बाँट लिया है आधा आधा
यह जग दिवस निशा दोनों ने।
रास चक्र रचकर वे दोनों
आवर्तन - क्रीड़ा यों करते।
हर पलटे पर विमल क्षितिज की
गोद ललित लालों से भरते॥ ८॥

निद्रा की प्रशांत लहरों में
श्रान्ति सभी ने दूर बहाई।
और उठे जब तमचुर गण ने
अपनी रुचिर प्रभाती गाई।
देखी सबने पूर्व दिशा की
मादक सुषमा आज नयी ही।
या श्यामल - वसना शशि वदना
मृदु रजनी की लाज नयी ही॥ ९॥

खोल पूर्व का फाटक, आकर
उषा बालिका प्रभामयी ने।
प्रातः पूजन को चुन चुनकर
कोमल कुसुम गगन के बीने।
मलयाचल से चल इतराता
शुभ समीर वह सम्मुख आया।
जिसने कल कोमल कलियों को
चुटकी सी देकर चटकाया॥ १०॥

विहग वृन्द ने सुभग दिवस की
आगे बढ़कर की अगवानी।
सूर्य देव ने उठकर फेरा
सब जग में सोने का पानी।
हटा सकल आलस्य जगत का
चर अचरों में जागृति आई।
सब जीवों ने अपनी-अपनी
निशि में खोई श्री फिर पाई॥ ११॥

थिरक उठे सर सरिताओं के
सलिल रंग केसरिया पाकर।
बरबस जिन पर नयन और मन
होते थे खिचकर न्यौछावर।
थी रविकर रंजित समीर की
वृक्ष लताओं पर वह क्रीड़ा।
अथवा थी तरु आलिंगन में
ललित लताओं की वर व्रीड़ा॥ १२॥

छाई थी अनुराग राग सी
जो पलाश वृक्षों पर लाली।
नव किरणों ने अनुरंजित कर
उसको किया और श्रीशाली।
जान पड़ीं मंजुल लतिकाएँ
रविकर से सुहाग सा लेतीं।
तथा मुदित हो सुरभि भेंट में
कुसुमांजलि से अलि को देतीं॥ १३॥

मह मह करते मौर आम के
भौंर भौंर रस-फूले भूले।
कल कोकिल जिनकी सुगंधि से
कूक कूक अपने को भूले।
पर मंजरियों ने भौरों को
भेज सुरभि दूती बुलवाया।

गुण - अवगुण - निरपेक्ष प्रेम
है इसीलिए तो अन्ध कहाया ॥१४॥

साजी थी माली वसन्त ने
तरु तरु पर कुसुमों की डाली।
डाली डाली पर डाली थी
जिनने निर्मल कान्ति निराली।
वे थे सुमन कि वन - अवनी ने
नभ - नक्षत्रों को पाया था।
या जग का अनुराग सुमन बन
तरु - पथ से बाहर आया था ॥१५॥

खुल, खिल खेल बताते थे वे
"तुम भी हम-सा सुमन बना लो।
दो दिन की दुनिया में खिलकर
जग को सुख दे लो सुख पा लो।
जग यदि तुम्हें न देखे तो भी
हम कानन - कुसुमों - सा फूलो।
शान्त कान्त एकान्त वास कर
जगपति के चरणों पर भूलो" ॥१६॥

खिले सुमन लख मन खिल उठता,
हृदय भूलता लतिकाओं पर।
उड़ जाता था चित्त विहंगों
के मीठे स्वर के पर पाकर।
हरी भरी हरियाली लखकर
आखें हरी भरी हो जातीं।
जल की लहरों में मिल मिलकर
भाव - लहरियाँ थीं बल खातीं ॥१७॥

वृक्ष - लताओं की उलझन में
मति उलझी गाँठें सुलझाती।
किसलय गण की सुन्दरता में
बुद्धि चकित अपने को पाती।

थी यों मोहक बन वन - सुषमा
खोल रही रहस्य जीवन के।
दिखलाती थी प्राण एक है,
भेद विविध हों चाहे तन के ॥ १८ ॥

'साकेत सन्त' महाकाव्य के कुछ अंश

उपक्रम

जो कुछ मनुष्य का मनुष्य का कहाँ है वह,
आँखें मुँदती है तो रहस्य खुल जाता है।
न्यास जो मिला है, उसकी समृद्धि ही के लिए,
नर निज आयु के बरस कुछ पाता है।
शान्ति तज क्रान्ति का बटोही बना विश्व जब
तामसी तमिस्रा में बिकल बिललाता है।
तब भावना में भारतीयता का भव्य रूप
भर कर भारत भरत - गुण गाता है ॥ १ ॥

स्वामी एक राम हैं उन्हीं का धाम विश्व यह;
जन में जनार्दन की ज्योति नित्य जागी है।
तीव्र अनुभूति इस भाँति जिसकी है हुई,
नश्वर जगत में वही तो बड़भागी है।
जो नहीं यहाँ का हुआ होगा क्या वहाँ का वह,
राम हेतु लोक - अनुरागी महात्यागी है।
भरत - प्रभाव से भरित पूर्ण हो जो जीव,
भोगी रह के भी वही योगी वही यागी है ॥ २ ॥

धन्य था कलंक निष्कलंक कर मानस को,
मानव का जिसने प्रकाश छिटकाया है।
धन्य था विरह वह जिसने मथे हृदय
और भव्य भक्ति का अमृत बिखराया है।
धन्य वह सन्त था कि राम हेतु राम से भी
दूर हट, राम के समीप रहा आया है।

धन्य वह तार भारती की मंजु बीन का था,
जिसके स्वरों ने हमें भरत दिलाया है ।। ३ ।।

इस एक शब्द में हजारों रस रीतियाँ हैं,
इस एक शब्द ने करोड़ों व्यंग पाये हैं ।
इस एक शब्द के सहारे कोटि कोटि जीव,
लोक परलोक जीत राम में समाये हैं ।
रसने ! समझ ले तुझे जो रस की हो चाह,
भक्त भगवन्त में कहाँ के भेद छाये है ।
अभिराम भाव से जगाने जन - जीवन को,
मेरे जान राम ही भरत बन आये हैं ।। ४ ।।

श्मशान

उधर, नृप-देह को लेकर दुखित-मन,
नदी के तीर पर पहुँचे सभी जन ।
कभी जो विश्व-वंद्य कहा रही थी,
वही अब क्षार होने जा रही थी ।।२४।।

हजारों वासनाएँ कामनाएँ,
करोड़ों क्षुद्र स्वार्थो की कथाएँ ।
रहे जिसके कई अनुराग के घर,
चला वह नर धधकती आग के घर ।।२५।।

विभव की राशियाँ जिस पर जुड़ी थीं,
पताकाएँ कई जिसकी उड़ी थीं ।
उसी की धूल उड़ने को यहाँ है,
कहेगा कौन वह क्या था, कहाँ है ।।२६।।

उदधि में एक बुद्बुद था, ढला वह,
हवा का एक झोंका था, चला वह ।
रहा कब विश्व पर अधिकार उसका,
न अपनी साँस पर अधिकार जिसका ।।२७।।

उड़ा पंछी रहा तृण जाल बाकी,
मढ़ा, बस, खाल से कंकाल बाकी ।

मगर वह भी चला निःशेष होने,
अजानी राह पर अस्तित्व खोने ।।२८।।

स्मशान स्थल जहाँ, थे लोग पहुँचे,
जहाँ तक जा सके वे लोग पहुँचे।
वहाँ के बाद तो थी अगम धारा,
न जिसका पा सका कोई किनारा ।।२६।।

गये उड़ गिद्ध और शृगाल भागे,
सड़ी-सी लोथ चोथी छोड़ आगे।
मगर की राह ने परवाह किसकी,
उसे थी आह किसकी चाह किसकी ।।३०।।

बही सरयू करोड़ों अश्रु लेकर,
मगर इस भूमि पर आया न अन्तर।
पहन कर अस्थियों की मुंडमाला,
अड़ी ही रह गई काली कराला ।।३१।।

इयत्ता लोक के अरमान की यह,
परा सीमा नरों की शान की यह।
यहीं पर मृत्यु जीवन छा रही थी,
यहीं जीवन कथा लय पा रही थी ।।३२।।

कहा किसने कि 'निर्धन वह धनी वह',
लखा किसने कि निर्गुन वह गुनी वह।
चिताएँ अग्नि - जिह्वाएँ प्रसारे,
निगलती जा रही थीं जीव सारे ।।३३।।

यहीं भिक्षुक यहीं नृपवर्य स्वाहा,
यहीं वपु का सकल सौंदर्य स्वाहा।
अवस्था का न कोई वेध इसमें,
अनवरत हो रहा नरमेध इसमें ।।३४।।

विषैले काल की फुफकार थी वह,
मगर शिव की विभूति अपार थी वह।

भयानक, पर विरति - जननी भली थी,
अपावन, पर परम पावन थली थी ॥ ३५ ॥

सभी को एक गोदी में खिलाती,
सभी को पाठ समता का पढ़ाती।
विषम उस भूमि में सम ठौर लख कर,
चिता विरची गई शव हेतु सत्वर ॥ ३६ ॥

बनी जब स्वर्ग की सोपान - सी वह,
बनी जब एक भव्य विमान - सी वह।
रही जब अर्पने को अग्नि - रेखा,
सभी ने कैकयी का यान देखा ॥ ३७ ॥

सभी घबरा उठे, यह क्या हुआ अब,
किसी की मान सकतीं कैकयी कब।
चलेगा और क्या षड्यंत्र कोई,
जगेगा आज मरघट - मंत्र कोई ? ॥ ३८ ॥

शलभ को एक पल में क्षार करके,
बढ़ी दीपक - शिखा शृंगार करके।
बढ़ायेगी उसे क्या क्षार घट कर,
लगी लौ क्या बुझेगी यों सिमट कर ? ॥ ३९ ॥

मगर जब कैकयी का हाल देखा,
सबों ने ही सती का भाल देखा।
भरत जी यदि न बढ़ कर रोक लेते,
उसे नृप संग सुर के लोक लेते ॥ ४० ॥

नृपति के संग जलने को खड़ी थी,
सती निज स्वत्व पर आकर अड़ी थी।
किसे साहस कि कुछ समझा सके जो,
किसे साहस कि उस तक जा सके जो ॥ ४१ ॥

भरत ही सामने आये, कहा यों—
"दिवंगत जीव को न अधिक सताओ।

जलोगी यदि चिता को पास पाकर,
जलाग्रोगी पिता को पास जाकर" ॥४२॥

विषम इस व्यंग से जो चोट ग्राई,
गिरी रानी न पल भी सँभल पाई।
बहुत उपचार पर जब होश ग्राया,
बदन पर रुद्ध वाणी - स्रोत छाया ॥४३॥

"चला जो तीर, तरकस में न लौटा,
हुई जो भूल उसने चित्त ग्रौटा।
व्यथामय प्राण रख मैं क्या करूँगी,
मरूँगी पुत्र! छोड़ो, मैं मरूँगी ॥४४॥

न तुम ग्राये न मुझको ज्ञान ग्राया,
वरों के लोभ में क्या क्या न पाया।
लखूं जब तक वरों की पूर्ण परिणति,
कि सहसा रुक गई नृप की हृदय-गति ॥४५॥

सचिव की बात से ग्राहत हुग्रा उर,
गये इस शीघ्रता से भूप सुरपुर।
न उर की बात मैं कुछ खोल पाई,
कठिन क्यों थी न यह कुछ बोल पाई ॥४६॥

स्वयं सौभाग्य का संहार करती?
न इतना राक्षसी ग्रविचार करती।
मगर ग्रब व्यर्थ है यह तर्क - माला,
जला दो देह, बुझ ले हृदय ज्वाला ॥४७॥

लिये हैं प्राण मैंने प्राणधन के,
निछावर हो रहूँगी उस चरण के।
यहाँ पाया न जो बरदान उनसे,
वहाँ माँगूं दया का दान उनसे" ॥४८॥

× × ×

प्रावट् प्रकोप

संध्या आने के आगे ही,
आंधी ने आ नभ को घेरा;
उसके एक कड़े झोंके में—
उखड़ा शान्ति कान्ति का डेरा।
हहर उठा वन प्रान्त समूचा,
जीव - जन्तु जी लेकर भागे।
गिरे रणाहत वीरों - से तरु
जिनने अकड़ दिखाई आगे ॥ १ ॥

धूल - धूल ही धूल सब कहीं,
व्योम धूल से यों भर आया—
रवि ने अपना तेज गँवाकर,
पश्चिम में मुँह आप छिपाया।
फिर भी शान्त हुई न आँधियाँ,
जब तक वे न अँधेरा लाईं।
पटी, बात कहते, अंजन से—
अन्तरिक्ष की दुर्भर खाई ॥ २ ॥

तारों की क्या ताब, धूल का—
तिमिर चीर जो भू पर झाँकें।
दीपों की क्या शक्ति भूमि में—
स्थिर रह कर जो ऊपर झाँकें।
झोंकों में यदि पड़ीं मशालें,
पल में प्रलय मचा सकती थीं;
डेरों की क्या बात, विपिन में—
भी वह आग लगा सकती थीं ॥ ३ ॥

अवध और मिथिला के नागर,
थर थर काँपे भावी भय से।
"मृत्यु निकट है मैदानों से—
अथवा डेरों के आश्रय से ?

राम शिखर पर, डेरे भू पर,
घोर तिमिर है और न पाँखें।
एक बार उनको लख लेतीं—
फिर चाहे मुंद जातीं आँखें" ॥ ४ ॥

भय को भी भयभीत बनाने,
प्रकृति लगी आँखें दिखलाने।
क्षितिज छोर से बढ़ीं बिजलियाँ,
चमचम करती तेगें ताने।
तड़ित तिमिर के घोर द्वन्द्व में—
पल - पल पर पलटी जयमाला।
जो जीता वह ही भीषण था,
अन्धकार हो या कि उजाला ॥ ५ ॥

आँधी थमी, थमी फिर ऐसी,
पड़े तुरत साँसों के लाले।
ऊष्मा बढ़ी, बढ़ी व्याकुलता,
प्राणों को अब कौन सँभाले ?
एक छोर से अपर छोर तक,
नभ में था पानी ही पानी।
एक बूँद के लिए विकल था,
किन्तु व्यथित भूतल का प्राणी ॥ ६ ॥

आई बूँद कि जीवन आया,
हटा मृत्यु का सा सन्नाटा।
पर बूँदों के साथ साथ ही,
गिरा घोर नभ से अर्राटा।
चली गोलियाँ, गोले छूटे,
दहला जगत् दगी तोपों से।
पल पल में सौ पद्म मुसल भी
गिरने लगे घटाटोपों से ॥ ७ ॥

मर्यादा ही में सब अच्छे,
पानी हो वह या कि हवा हो।

इधर मृत्यु है, उधर मृत्यु है,
मध्य मार्ग का यदि न पता हो।
मनमानी सी मची हुई थी,
पानी के उन आघातों में।
रोक - थाम जिसकी न कहीं थी,
शिविरों और घने छातों में ॥ ८ ॥

अरर् अरर् का घोर रोर वह,
सभी ओर था जोर दिखाता।
धड़ धड़ धड़ गिरती धाराओं
की गति को गतिशील बनाता।
कड़क कड़क कर तड़प तड़प कर,
तड़िता जिसका पीछा करती।
छप छप कर, छिप छिप कर, जिसमें,
क्षुब्ध प्रलय - विप्लव - सा भरती ॥ ९ ॥

नीचे पानी ऊपर पानी,
सभी ओर पानी ही पानी।
जिसके बिना विकल थे जन सब,
पाकर उसे बढ़ी हैरानी।
जीवन वह बन गया मृत्यु का—
पूर्व - रूप, ऐसी थी वर्षा।
हुए सभी जल - थल - नभ सम से,
आह ! विषम कैसी थी वर्षा ॥१०॥

असमय की कोई हों बातें,
मन को कब हैं रुचिकर होतीं।
असमय की जल धाराएँ भी,
बीज दुखों के ही हैं बोतीं।
दो घड़ियों के स्वल्प काल तक—
ही निसर्ग ने की मनमानी।
काल स्वतः बन गया किन्तु,
उन दो घड़ियों में आँधी पानी ॥ ११ ॥

भरत का निर्णय

दृगों दृगों सब को प्रणाम कर,
नीचे ही दृग अपने डाले।
स्नेह-सिन्धु को उर में रोके,
और कण्ठ पर गिरा सँभाले,
पल पल में रोमांच आर्द्र कर,
शब्द शब्द में भर स्वर कातर।
बोले भरत, समुत्थित होकर
कर्तव्यों की असिधारा पर॥ १॥

"गुरुजन के रहते मैं बोलूं ?
आह ! दुसह यह भार उठाऊँ !
निज अभिलाषाओं का
अपने हाथों ही संहार रचाऊँ ?
किन्तु हुआ आदेश, विवश हूँ,
उर पर सौ-सौ वज्र सहूँगा।
जिसे न सपने में चाहा था,
इस मुख से वह बात कहूँगा॥ २॥

मुझ अनुचर की अभिलाषा क्या,
प्रभु-इच्छा अभिलाषा मेरी।
प्रभु को जो संकोच दिलाये,
कभी न हो वह भाषा मेरी।
जान चुका हूँ प्रभु की इच्छा,
पथ विपरीत गहूँ मैं कैसे।
रोम रोम जिसको कहता था,
अब वह बात कहूँ मैं कैसे॥ ३॥

अवध और मिथिला के वासी,
सकल परिस्थिति देख रहे हैं।
प्रभु का विश्व रूप वन्यों की—
जागृति में वे लेख रहे हैं।

मुनियों ने, मिथिलेश्वर ने,
जो निर्णय का संकेत बताया।
मानूंगा मैं धन्य स्वतः को,
उतना भी यदि प्रभु को भाया ॥ ४ ॥

सानुकूल स्वामी हैं सन्मुख,
और कलंक धुला है सारा।
किन्तु कठोर धर्म सेवक का,
जिसमे स्वार्थ सभी विध हारा।
उनकी इच्छा है कि अवध में,
मैं विरहातुर दिवस बिताऊँ।
तब मैं कैसे कहूँ, चलें वे
अवध, कि मैं ही वन को जाऊँ ॥ ५ ॥

शशि ने जल में लहर उठा कर,
खींचा, सागर में बिखराया।
प्रभु ने भाव दास के उर का,
खींचा, जग भर में बिखराया।
पर अब उन बिखरे भावों में,
शशि ही निज शीतलता छाये।
उर तो उर-प्रेरक का चेरा,
वह दुख दे या सुख पहुँचाये ॥ ६ ॥

आया था अपनी इच्छा से,
जाऊँगा प्रभु इच्छा लेकर।
मैंने क्या क्या आज न पाया,
इस वन में अपनापन देकर।
राज्य उन्हीं का यहाँ वहाँ भी,
मैं तो केवल आज्ञाकारी।
चौदह वर्ष धरोहर सँभले,
बल-संबल पाऊँ दुखहारी ॥ ७ ॥

चरण-पीठ करुणा-निधान के,
रहें सदा आँखों के आगे।

मैं समझूँगा प्रभु - पद - पंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।
उनसे जो प्रेरणा मिलेगी,
तदनुकूल सब कार्य करूँगा।
उन्हें अवधि - आधार जान कर
उन पर नित्य निछावर हूँगा ॥ ८ ॥

आशीर्वाद मिले वह जिससे,
प्रभु में जीवन श्रोत मिलालूँ।
उनके लिए उन्हीं की चीजें,
पा उनका आदेश, सँभालूँ।
फूले फले जगत यह उनका,
इसीलिए बस प्यार करूँ मैं।
और अवधि ज्यों ही पूरी हो,
सारा भार उतार धरूँ मैं" ॥ ९ ॥

बढ़े राम झट गद्गद होकर,
लिपटा लिया दीर्घ बाँहों में।
मौन भरत भावों से झुक कर,
बिखर पड़े अपनी आहों में।
उन पीठों पर सुर - सुमनों से,
बरसे स्नेह - सुधामय मोती।
जिनकी ज्योति न जाने कब तक,
रही सबों के हृदय भिगोती ॥ १० ॥

ऊर्मिला और माण्डवी

दूर ऊर्मिला का सागर था।
देह महल में रुद्ध हुई थी, पर न निरुद्ध विरह-निर्झर था।
भरी दृगों ने जल-धाराएँ, शब्द-शब्द करुणा-कातर था।
किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था ॥१॥

सम्मुख है राकेश, चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये।
बिकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाये।
था वसन्त आँखों के आगे, पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह ! माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था ॥२॥

जो है दूर उसी की आशा रख कर मन समझाया जाये,
समझ सराहूँ मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये,
सलिल-विरह की बात न जिसमें, स्वतः प्यास उठना दुर्भर था।
अहह ! माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था ॥३॥

'रामराज्य' महाकाव्य के कुछ अंश

प्रस्तावना

मानव भी श्री राम हैं अतिमानव भी राम
उसी रूप में वे सुलभ, जिसको जिससे काम ॥१॥

जो इतिहास, उसे पढ़ते हैं, जन-दृग अपने रंग चढ़ाकर
निज भावना तृप्त कर लेते, उसका मंजुल आश्रय पाकर।
जो था वह है सत्य, और जो हो सकता है सत्य न क्या वह ?
जन-भावों का जो प्रेरक हो, उसकी सीमा कौन सका कह ? ॥२॥

त्रेतायुग के नहीं, राम तो युग-युग के प्रेरणाधाम हैं
पूर्ण पुरातन चिर नवीन वे, भाव स्रोत हृदयाभिराम हैं।
राम सत्य, रामत्व और भी सत्य, कि जिसकी चाह हमें है
नई परिस्थिति के बीहड़ में सजग देखनी राह हमें है ॥३॥

युग का जो इतिहास रहा, वह युग-युग का इतिहास बना है
त्रेता का अभिनय, चतुर्युगी मानव-मन-अधिवास बना है।
कहता है प्रतिवर्ष दशहरा, अपने मन का रावण मारो
हृदय-हृदय साकेत-धाम हो, राम-राज्य-वैभव विस्तारो ॥४॥

शासन से सम्बन्ध सभी का, शासन ही से जग-उन्नति है
लोक-व्यवस्था-संस्थापन को शासन ही तो अन्तिम गति है।
प्रति शासन ने देखा चाहा शुभ शासन-आदर्श कहाँ है
भरत भूमि के रामराज्य ने मौन स्वरों में कहा "यहाँ है" ॥५॥

राम तथा रावण उत्तर के, रावण विप्र राम क्षत्रिय थे
प्रान्त जाति संघर्ष न था वह, राम स्वकृत्यों से जनप्रिय थे।
राम-राज्य सबका अपना है, हो वह राम कि रावण-वंशी
विश्व-शान्ति का जो है प्रेरक, होगा उसका विश्व प्रशंसी ॥६॥

राम कृष्ण चरणों पर आश्रित संस्कृति, सत्साहित्य कलाएँ,
सूर्य चन्द्र से फिर क्यों जूझें, नई तरंगें, नई घटाएँ।
मौलिकता का मूल्य बहुत है, वह सामयिक भले बन आये
रावण-राज्य न किन्तु जिलाये, खोया राम-राज्य फिर लाये ॥७॥

राम चरित के गान की, मन में जो थी स्फूर्ति
महाकाव्य यह तीसरा, कर दे उसकी पूर्ति ॥८॥

चित्रकूट का एक वार्तालाप

यही था सच्चा जन-सम्पर्क कि मन ने मन में पाया ठौर
समन्वित संस्कृति यों बढ़ चली, आज कुछ और और कल और।
वृक्ष थे भवन, सूर्यशशि दीप, भूमि पट्टिका, अँगुलियाँ टंक
सरल अक्षर-शिक्षा थी वहाँ, बाह्य साधन का क्या आतंक ॥ १ ॥

अक्षरों के व्यूहों का भी न, रहा शिक्षा-पद्धति में काम
पुण्य सलिला-सी वह निर्बन्ध, बढ़ चली अपने आप ललाम।
वृथा है वह जो बनकर रहे, किसी की विषम बुद्धि का भार
वही सच्ची शिक्षा है, जो कि कर सके हृदयों का संस्कार ॥ २ ॥

"ज्ञान नक्षत्रों को यदि लिया, आप अपने से रहे अजान
बुद्धि में भरा तर्क-विस्तार, किया संकीर्ण हृदय का मान।
ग्रन्थ के बोझ, पन्थ के बोझ, खो गई जिनमें मन की शान्ति
ज्ञान की साक्षरता वह कौन, ज्ञान है वह तो केवल भ्रान्ति ॥ ३ ॥

"कुजन हों सज्जन, सज्जन शान्त, शान्त हों भव बन्धन से मुक्त
मुक्त हों जो वे आगे बढ़ें, करें औरों को भी उन्मुक्त।
यही शिक्षा का है ध्रुव ध्येय, न लद चलना उसको स्वीकार
हटा दो शिला कि जिससे उमड़ पड़े उर से ज्ञानामृत-धार ॥ ४ ॥

"मनुज में अन्तर्यामी छिपा, कि जो करुणामय परम पवित्र
वही ज्योतिर्मय ज्ञान-निधान, व्यवस्थापक, जग का सन्मित्र।
छात्र के तिमिरावृत मन मध्य, कहीं भी दे जो उसे उभार
वही सच्ची शिक्षा है और उसी से सुधरेगा व्यवहार ॥ ५ ॥

"अशिक्षित और सुशिक्षित की न, रही साक्षरता केवल माप
वही है सच्चा चन्दन-लेप, हर सके जो कि हमारे ताप।

मनुज की मानवता बढ़ जाय, रचो, प्रिय ! ऐसे रुचिर उपाय
यही, लक्ष्मण ! शिक्षा-उद्देश, इसी से विकसित जन-समुदाय ॥ ६ ॥

"समझना कभी न मन में भूल, कि हम हैं शिक्षा गुरु महान
ज्ञान की भाषा में मत इन्हें, सिखाना मानवता का मान।
ज्ञान की भाषा में अभिमान, प्रेम की भाषा में सहयोग
समझ लेते हैं झटपट सदा, प्रेम की भाषा मानव लोग ॥ ७ ॥

"नहीं हैं अज्ञानी ये जीव, न अपने ही अधिकृत है ज्ञान
ज्ञान का हुआ किया है सदा, जातियों में आदान प्रदान।
दे सके यदि हम मन के तत्त्व, कर सके ये भी तन का त्राण
बूटियाँ इनको ऐसी ज्ञात, कि जिनमें भरा लोक-कल्याण ॥ ८ ॥

"निरक्षर है तो क्या, पर सबल स्वस्थ है इनकी जीवित जाति
अभावों से न कभी ये व्यथित, काम्य है इन्हें न अपनी ख्याति।
कटे अवयव तुरन्त जुड़ जायँ, रोग दुःसाध्य आप उड़ जायँ
इन्हें ऐसी ओषधियाँ ज्ञात, कि कुछ पल को यम भी मुड़ जायँ ॥ ९ ॥

"सत्य है, क्षिति जल पावक पवन, और नभ का है यदि सहकार
पंचतत्वात्मक तन के लिए, सहज होगा प्राकृत उपचार।
वनस्पतियाँ भी तो हैं अन्न, और यह बनी अन्नमय देह
चिकित्सालय पर ही क्यों ध्यान, वनस्पति पर क्यों रहे न स्नेह ॥१०॥

'सिखायें कुछ उनको, कुछ आप सीख लें जन-जीवन की बात
शब्द का हो अति अल्प प्रयोग, क्रिया से मिले तत्त्व अवदात।
क्रिया से भाव, भाव से बुद्धि, बुद्धि से पूरा मानव-बोध—
शोध कर ऐसी संस्था रचो, कि बढ़ निकले विकास अविरोध ॥११॥

"चाहिये शक्ति और सत्संग और सच्चा शुभ सतत प्रयास
शक्ति आत्मा है, गुरु सत्संग, शास्त्र ही है वह वितत प्रयास।
शास्त्र बतलाता मधु की कथा, और गुरु देता है मधु ढाल
किन्तु आत्मा ही सकती जान, कि वह है कितना मधुर रसाल ॥१२॥

"जगा दो इनकी आत्मा, बन्धु ! मुखर हो जाये जो थी मौन"
"जगायेगा इनको जग-बन्धु, जगाने वाले हम हैं कौन।
करें हम इनके प्रति कर्तव्य, कि आत्मा करे जिन्हें स्वीकार,
सफलता या कि विफलता मिले, ईश पर ही है इसका भार" ॥१३॥

दो घटनाएँ : रामराज्य की

दो घटनाएँ राम राज्य की जिनकी प्रायः होती चर्चा
शूद्र तपस्वी की हत्या कर, की रघुवर ने ब्राह्मण-अर्चा !
साधारण लोकापवाद पर, उनने क्यों सीता को त्यागा ?
जन अनुरागी राम-हृदय में, नय-अनुराग नहीं क्यों जागा ?॥१॥

भिन्न विधाएँ हैं चर्चा की, घटनाएँ रघुवर ही जानें
कविजन तो भावानुरूप ही देकर अपना रंग बखानें।
जैसा रघुवर का जीवन था, जैसा था उद्देश मनोरम
उसी दृष्टि से परखा जाये, इन दोनों घटनाओं का क्रम ॥२॥

हम तो देख रहे हैं, पहिली घटना है सन्तुलन सिखाती
और दूसरी घटना, बरबस प्रभु का सर्वस-त्याग दिखाती।
शब्दों की लक्षणा-शक्ति से हम कवि की भाषा पहिचानें
घटनाओं के अभिलेखों की सतह नहीं, तह भी अनुमानें ॥३॥

हाथ पैर यदि सिर बन जायें, तो तन-बढ़ न सकेगा आगे
जिसमें चिन्तन की न शक्ति हो, क्यों चिन्तन-हठ में अनुरागे।
श्रमिक वर्ग यदि निष्क्रिय तपसी हुआ, अहं सब अपना लेकर
तो विश्रृंखला ही लायेगा, ब्राह्मणता को ठोकर देकर ॥४॥

शूद्र श्रमिक है ब्राह्मण चिन्तक, श्रम न कभी चिन्तन को दाबे
तप अच्छा है, किन्तु बुरा वह यदि हो उच्छृंखल के ताबे।
उलटा तप शम्बूक तपी का सात्विकता से दूर बहुत था
वर्ग-स्पर्धा से प्रेरित सा लौकिकता से जो आप्लुत था ॥५॥

उसके भावों के निग्रह को कवि ने दी हत्या की संज्ञा
वह निग्रह ही जिला सका था नवल स्वस्थ चिन्तन की प्रज्ञा।
शूद्र तपस्वी का निग्रह कर, प्रभु ने ब्राह्मण-पुत्र जिलाया
हमने इस पहिली घटना में, गुम्फित यही तत्त्व है पाया ॥६॥

जो लोकापवाद की घटना वह प्राकृत जन योग्य आप है
किसका मुँह किसने कब रोका, अद्भुत तर्कों का कलाप है।
धोबी ने श्री सीता जी की अग्नि परीक्षा थी कब देखी
अपनी मति से उस गँवार ने, प्रभु की मति की बात सरेखी ॥७॥

प्राकृत नर सकरे मन का है, नारी-शील समझ कब पाया
काम-कीट ने उस स्वीकृति को प्रभु का नारी मोह बताया।
झूठे आधारों पर जनमत, बना और बिगड़ा करता है
पर नृप को तो जनमत का भी, ध्यान सदा धरना पड़ता है ॥८॥

शासक अच्छा रहे न इतना अलं, उसे सब अच्छा जानें
तभी कहीं वह खोल सकेगा जन जन की सद्भाव-खदानें।
निष्कलंकता क्या लायेगा जो शासक कि कलंक पात्र था
चिन्तनीय था वह जनमन ही धोबी तो संकेत-मात्र था ॥६॥

"सीता कभी न चाहेंगी, हों राम कलंकी उनके कारण
और कलुषमय जनभावों का तर्कों से कब हुआ निवारण ?
एक मात्र पथ था इस स्थिति में, दोनों तपो निरत बन जायें
राम रहें एकाकी घर पर, सीता कवि के आश्रम जायें ॥१०॥

वाल्मीकि आश्रम में होगी, गर्भवती सीता संरक्षा"
जनमत के सुधार में होगी, कवि-वाणी प्रभाव-प्रत्यक्षा।
वही हुआ उस निर्वासन में, कवि ने ऐसे भाव जगाये
प्राकृत जन भी बदल लोकमत, मन में बार बार पछताये ॥११॥

नैतिकता-संवर्धक जनमत के आगे थे राम झुक गये
पर नैतिकता-बाधक जनमत के विरोध में अडिग रुक गये।
कहा सबों ने अन्य ब्याह कर अश्वमेध मख राम रचें अब
हिला न पाये किन्तु राम-मन, लाख यत्न करके भी वे सब ॥१२॥

केवट प्रसंग

(गंगा संतरण)

नाव चलने से जह्नुजा में जो हिलोरें उठीं,
गंगा उर हर्ष की हिलोरें सी दिखाती थीं।
छूना चाहती सी थीं वे चारु चरणों को, किन्तु
सीमा में बँधी थीं रह जाती छू न पाती थीं।
'राजहंस' मीन कच्छ आदि सहवासियों को,
इस ही लिए वे रह रह उकसाती थीं।
आतीं जल - जन्तु राशियाँ थीं सुख पातीं—
छवि लख लख जातीं पै न फिर भी अघाती थीं ॥

× × ×

क्षिति ने सदागति के हाथ उपहार रूप,
भेजा निज सुमन सुमन का सुरभि जाल।
शीतलता जल की उजास अग्नि की भी लेके,
आया बह मारुत, सुहाया चल मंद चाल।

व्योम ने उसे था अवकाश दिया सेवा हेतु,
एक गति में थे लुटे जाते लक्ष मुक्तामाल ।
'राजहंस' मुग्ध हो निछावर थे पंच तत्त्व,
नौकारूढ़ राम की विलोक सुषमा रसाल ॥

× × ×

जैसे उर मध्य इष्ट देव की विराजै मूर्ति,
जैसे व्योम मध्य छवि सोहती है चन्द की ।
जैसे हार पुञ्ज बीच नीलम पदक सोहै,
पिंगल में जैसे छवि मनहर छन्द की ।
दीप मध्य जैसे 'राजहंस' है रुचिर ज्योति,
सीप मध्य जैसे छवि मौक्तिक अमन्द की ।
गंगा की धवलतर तरल तरंगों बीच,
ऐसे राजती थी वह नाव रामचन्द की ॥

× × ×

परम गंवार के अपढ़ नयनों में, उस—
छवि की सुवर्णमाला आप पढ़ी जाती थी ।
सुस्थिर थे सीता और लक्ष्मण समेत राम,
चित्त में परन्तु वह मूर्ति चढ़ी जाती थी ।
अनगढ़ इन्द्रियों की वृत्तियों में 'राजहंस'
भावना न जाने कौन कौन गढ़ी जाती थी ।
केवट को सुध डाँड़ खेने की कहाँ थी, अहा,
नाव तो तरंगों में स्वयं ही बढ़ी जाती थी ॥

× × ×

नाम मात्र जिसका पुकार कर एक बार,
पार बहु बार विश्व-पारावार हो गया ।
नाव के सहारे नदी पार जा रहा है वह,
देखने में कौतुक महा अपार हो गया ।
'राजहंस' राम-रुचि नाव की बनी जो पाल,
राम का इशारा आप पतवार हो गया ।
केवट में शक्ति कहाँ राम को करे जो पार,
साथ हो के राम के वही था पार हो गया ॥

('मानस के चार प्रसंग' से)

वर्षा की बहार

श्रौर, देखिये, शीघ्र सामने श्राई वर्षा
ताप हारिणी, कान्तिमयी, वितरित नवहर्षा ।
लगी झूमने वृक्ष वृक्ष की डाली डाली
ढेर धूल के फोड़, कढ़ी जीवन - हरियाली ।।१।।

सूखे दादुर फूल उठे, निज शंख बजाने
मस्ती में बढ़, लगे झिल्लियों के गण गाने ।
इन्द्र-बधू जब श्रोढ़ मखमली भू पर श्राये
जुगनू क्यों तब उसे, न नभ के दीप दिखाये ? ।।२।।

घहरे नभ पर मेघ, मोर भूतल पर नाचे
लिखा गगन ने 'प्रेम', धरा ने श्रक्षर बाँचे ।
वे थे विद्युद्वर्ण, दशों दिशि भरा उजाला
मोरों-सा ही हुश्रा, सभी का मन मतवाला ।।३।।

प्रभा श्रौर तम खेल रहे थे श्राँख मिचौनी
हुई जिसे लख पथिक-प्रवास-उमंगें बौनी ।
बही हवा यदि कहीं गगन का रंग मिटाने
निकल पड़े सुर चाप बाण रंगों के ताने ।।४।।

बरस रहा था श्रमृत, मोतियों की लड़ियाँ थी
खेत-खेत में झड़ी पड़ रहीं फुलझड़ियाँ थीं ।
उनका यद्यपि मोल, किया सबने मनमाना
वे कितनी श्रनमोल, किसानों ने ही जाना ।।५।।

इस वर्षा के वही देखते कीचड़ काँटे
दोष-दृष्टि ही पड़ी, धरा पर जिनके बाँटे ।
कुसुमित या कंटकित कहो, वह वृक्ष एक है
श्रपना-श्रपना दृष्टिकोण, श्रपना विवेक है ।।६।।

× × ×

डाक्टर साहब के मुक्तक काव्यों से

मदन महल

आज लुटा-सा तुम्हें देख कर
सोच रहे हैं हम मन में,
क्या महलों के सुख लूटे थे
तुमने भी इस जीवन में ?
इस सुनसान पहाड़ी पर जो
ईंटों का यह ढेर पड़ा,
क्या उनमें ही रहा किसी दिन
शाहों का भी शाह बड़ा ? ॥१॥

मुँह फैलाये खड़े भेड़िये
आज जहाँ जिन कोठों में,
चन्द्रमुखी क्या कभी भर चुकीं
हँसी उन्हीं के ओठों में ?
जिस धरती पर होते रहते
आज बन्दरों के रेले
क्या उस आँगन की गोदी में
राजकुमार कभी खेले ? ॥२॥

जिनने तुम्हें सँवारा सिरजा,
सब सुख से भरपूर किया
आज उन्हीं ने तुम्हें छोड़ कर
है अपना मुँह मोड़ लिया !
पर तुम जाग जाग कर अब भी
उनका नाम जगाते हो
है कैसा अहसान कि खुद मिटते
हो उन्हें उठाते हो ? ॥३॥

बरसों से ही इसी तरह तुम
खड़े हुए हो टीले पर।
सरदी गरमी पानी ओले,
डर न किसी का रत्ती भर।

हर दिन स्वामी के ही यश की
कथा कहे तुम जाते हो,
उनकी बिरह व्यथा में जल कर
दिन दिन गलते जाते हो ॥४॥

याद रहे, कि तुम्हारे तन का
कन भी यदि रह जायेगा,
तो भी सुयश तुम्हारा जग में
कभी न घटने पायेगा।

देख देख कर स्वामिभक्ति पर
मर मिटने का ऐसा बल,
कहा करेंगे मानव आकर
"धन्य तुम्हें है मदन महल" ॥५॥

['अन्तः स्फूर्ति' से]

बाँसुरी बजाइदे

जग जाल ज्वालन सों जरत बिकल प्रान,
स्रौन राह सरस विलेपन लगाइदे।
'राजहंस' भ्रमत मरीचिका में मन-मृग,
तान सो सुनाय नीके ठौर बिरमाइदे।
रस बरसाइदे, बढ़ाइदे अमंद मोद,
हीय की रुखाई नाथ ! धोय कै बहाइदे।
एक बेर, एक बेर, केवल सुएक बेर,
एक बेर श्याम ! वैसी बाँसुरी बजाइदे ॥

उर अन्तर सूनो है बाँसुरि सो,
सुर की सुख-धाम सुधा भरिदे।
उन छिद्रन में अधरामृत दै,
हिय के इन छिद्रन को दरिदे।
अरुझाय कै तान प्रतानन में,
अपनाय हमैं अपनो करिदे।
बलि, बाँसुरी ऐसी बजाउ हरे !
मन-माखन में मिसिरी भरिदे ॥

['श्याम शतक' से]

खटमल-मच्छर

खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर !
दोनों की है सत्ता घर घर ! !
नर नर,
इनसे है काँप रहा थर थर !
खटमल-मच्छर ! खटमल-मच्छर ! ॥१॥

ये छविदायक, वे कवि गायक,
ये करते छिपकर चोट और वे उड़कर लगते ज्यों सायक।
आहत होकर
इनसे हर नर
कहता रहता है डर डरकर
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ॥२॥

ये क्रान्ति और वे भ्रान्ति,
दोनों में फँसकर खो जाती है नर नारी की शांति।
दोनों दानव के वंश
वे हैं रावण की भुजा और ये रक्त बीज के अंश।
जिनको लखकर, उठते प्रवीर भी सिहर सिहर,
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ॥३॥

हर ! हर !
ये गाँव गाँव, ये नगर नगर।
हैं म्युनिसिपैलिटी कई, हेल्थ अफसर हैं कई हजार;
फिर भी विशाल सरकार
लाखों प्रयत्न कर करके भी इन दोनों से बेजार।
आगे जो थे अंग्रेज,
दुनिया के हर कोने में जिनका रहा सितारा तेज,
शेखी थी जिनमें यह कि फतह उनकी ही हर मैदान
उनके आगे क्या ठहर सकेगा जर्मन या जापान !
वे भी इस बूढ़े भारत पर
दो सदियों तक का शासन कर
उफ्, मार न सके एक मच्छर !

फिर खटमल की क्या बात !
इन दोनों का उत्पात
इसलिए मौन हो सहते हैं भारतवासी दिन रात !
कहते रहते धीरज खोकर
हाँ, रो रोकर,
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ॥४॥

कहते हैं खटमल रक्त रहा करता है हीरा फोड़,
पर हैं मच्छर मलेरिया वाहन, निश्चय हड्डी तोड़ ।
नाता जूड़ी से जोड़
लेते हैं प्राण निचोड़,
देते हैं ज्वर के तीखे-तीखे तीर सभी पर छोड़,
जिनसे जनता हो उठती है इतनी ज्यादा हैरान
इतना तो साँपों और बिच्छुओं ने न किया नुकसान ।
पहले कम्पित करके थर थर
फिर ढीला कर अंजर पंजर
फिर बहुतों को यम नगरी की ये टिकट कटा देते सत्वर ।
जो बचते हैं वे बने निकम्मे दीन
बाकी जीवन में मरियल-से रहते कौड़ी के तीन ।
ये पटका करते खटिया पर
वे खटका करते सिर चढ़कर
ये खून सुखाते देकर ज्वर
वे खून उड़ाते मुँह भरकर
दोनों के दाँव पेंच में पड़कर हाय-हाय कह उठता नर ।
नर या नारी हो प्रहर प्रहर
चीखा करता है उर अन्तर
सस्वर निःस्वर, सस्वर निःस्वर
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ॥५॥

उनका मुँह विष की खान
सिर छोटा, तन मोटा ताजा, लाली है गोल महान ।
अनजान
छिपे, तकिया में रचकर स्थान

सर करते रहते हैं रातों में मनुजों के मैदान ।
इनका वह निर्भय गान
गति गति में गुन गुन गान,
मेटा करता है दम्पति के भी प्रणय-कलह का मान ।
यद्यपि है मच्छरदान
फिर भी इनसे हैरान
बेचारे छिप जाया करते हैं लम्बी चादर तान ।
पर, ये मच्छर बलवान
घुस ही जाते हैं चद्दर तक में कतर खगों के कान ।
रह जाते दम्पति दंग देखकर इनकी ऐसी शान ।
अंकित हो उठते हैं उर पर,
दो नाम अमर,
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ।।६।।

ईश्वर, ईश्वर !
कहते हैं ब्रह्मा, विष्णु और शिव भाग छिपे इनसे डरकर
सबने खटिया छोड़ी, सोते हैं कमल, क्षीरनिधि, हिमगिरि पर ।
फिर कहो न हम कह दें क्यों कर
यमराज डाक्टर के हाथों के बड़े तेज ये दो नश्तर ।
पर, नश्तर से तो रोग भागते हार,
इन दोनों से तो केवल कष्ट अपार ।
किसका इनसे उपकार ?
हारकर थका सकल संसार ।
घर घर है हाहाकार
विलक्षण ऐसा कुछ इनका चक्कर ।
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ।।७।।

खटिया में इनका राज,
नीचे से ये, ऊपर से वे, बँध गया मनुष्य समाज ।
दृढ़ शासन यों प्रख्यात
दोनों लेते हैं खून टैक्स में हमसे सारी रात ।
अफसोस;
रह जाते हैं हम अपना हृदय मसोस ।

कोई भी नहीं उपाय
हम तड़पा करते अखिल रात्रि, दिल थामे कहते हाय ।
जपते रहते हैं पड़े पड़े साबर मंत्रों के से अक्षर ।
खटमल-मच्छर, खटमल-मच्छर ॥८॥

['व्यंग्य विनोद' से]

सन्मुख का सत्य

कैलास-भ्रमण फिर करना,
निज पुर में पहले रह लो,
हर हर फिर कहते रहना,
नर नर तो पहले कह लो ।

रहने बसने की चीजें
देंगे क्या स्वप्न सुनहले ?
ईश्वर से पीछे भिड़ना,
नर को तो समझो पहले !

सन्मुख का सत्य हटाकर
कल्पना हुई क्यों प्यारी ?
दृढ़ अवनी तजकर, कब तक
होगे तुम शून्य-बिहारी ?

कानों में मरहम कैसा
धधकी जब उर में ज्वाला ?
रोटी के टुकड़े देगी
भूखे को क्या मधुशाला ?

सोने चाँदी का तुमने
पट बीना झीना झीना
उससे क्या पोंछ सकोगे
श्रमिकों का कभी पसीना !

सपने हैं सतखंडे के,
सन्मुख है केवल कुटिया;

अपने को राजा कहकर
क्या पेट भरेगा मुटिया ?

उड़ती है जितने धन की
हर एक दौर में हाला,
कितनी निर्धन कुटियों में
उससे होता उजियाला ?

हर एक ग्रास में हाथी
बिखराता जितना दाना,
लाखों चींटे उतने में
पा सकते अपना खाना।

वैषम्य प्रबल होकर जब
समता का गला दबाता;
दबके पैरों मे जग में
है द्वन्द्व तभी तो आता।

वैषम्य और समता में
दाम्पत्य रहे जब दृढ़तर;
दोनों का जग तब होगा
मिल एक अर्द्ध-नारीश्वर।

['जीवन संगीत' से]

आशा, आनंद, उल्लास

(१)

निश्चय वह अपने में ही भूला रहता है
जो फूला रहता है जीतों के हार लिये;
वह अपने प्रिय का कण्ठहार बन जायेगा
जो बढ़ चलता है हारों के श्रृंगार लिये।

(२)

मानव समाज - सागर में जाना अनजाना
कमनीय प्रकाश - स्तम्भ वही बन जाता है

अपमान, प्रलोभन, अनाचार की झंझा में
जिसका 'संतुलन' - प्रदीप नहीं बुझ पाता है।

(३)

तुम कुछ न करोगे तो भी विश्व चलेगा ही
फिर क्या नर का कर्तृत्व गर्व निःसार नहीं ?
वह क्या बाँसों लम्बा अधिकार जतायेगा
जिसका अपनी साँसों पर भी अधिकार नहीं !

(४)

फिर गर्व और अधिकारों का लड़ना छोड़ो
कर्तृत्व नहीं, कर्तव्यभाव का ध्यान करो
निश्चय तुम होगे अखिल विश्व वैभव स्वामी
यदि तुम अपनी सच्ची विभुता का भान करो।

(५)

सजता है धौला चित्र साँवली चौखट में
खिल उठता निर्झर गान पहाड़ों से घिरकर
नर रत्न चमक उठता है जब विपम स्थितियाँ
हैं उसे घेरती शान चढ़ाने को उस पर।

(६)

बुलबुल प्रिय है बोलों में बेला सौरभ में
शिशु रूपों में प्रिय, और उपा प्रिय रंगों में
मैं अपनी प्रियता का भी कुछ रहस्य कह दूँ ?
मैं प्रिय हूँ मनहर मादक मस्त उमंगों में।

(७)

काँटे दिखते हैं जब कि फूल से हटता मन
अवगुण दिखते हैं जब कि गुणों से आँख हटे
उस मन के कमरे में दुख क्यों आ पायेगा
जिस कमरे में आनन्द और उल्लास डटे।

['उदात्त संगीत' से]

डाक्टर साहब के अनूदित काव्यों से

खैयाम

मूल— ख़ैयाम तनत बख़ेमए मानद रास्त
सुल्ताँ रूहस्तो मंज़िलश दारे बक़ास्त।
फ़र्राशे अजल ज़ि बहरे दीगर मंज़िल
अज़ पा फ़िगनद ख़ेमह् के सुलताँ बरख़ास्त।

अनुवाद— यह वह डेरा है मायामय, पाकर जिसमें रुचिर प्रवेश
करता है विश्राम एक दिन यम नगरी का पथिक नरेश।
ज्यों ही उठा नरेश तुरत बस त्योंही काला झाड़ूदार,
अन्य अतिथि के हेतु इसे है झटपट कर देता तैयार।

मूल— अज़ रूए हक़ीकतो नै अज़ रूए मजाज़
मा लॉबत गानेमो फ़लक लॉबत बाज़।
बाज़ीचा हमी कुनेम बर नतूए वजूद
रफ़तेम ब सन्दूके अदम यक यक बाज़।

अनुवाद— बिछी हुई शतरंज अहा! यह कहते हो जिसको संसार
दिवस-निशा हैं दोरंगे घर, हम सब हैं मुहरे छविसार।
बेबस हमें चलाता है वह, शह देकर करता है मात
क्रम क्रम से सबको भर लेता डिब्बे में फिर पिछली रात।

अमरुक शतक

मूल— प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय! त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः॥

अनुवाद— सौ दिन की मंजिल का स्थल था, प्रस्थान किंतु प्रिय कर न सका
प्रेयसि को उत्तर दे न सका, उसके वे आँसू हर न सका।
कितना सुन्दर था प्रश्न "कहो प्राणेश्वर! कब तक आओगे?
नौ बजे, दोपहर, तीन बजे, या संध्या वहीं बिताओगे?"

मूल— दाम्पत्योर्निशि जल्पतो र्गृहशुकेना कर्णितं यद्वच-
स्तत्प्रातर्गुरु सन्निधौ निगदतस्तस्योपहारं बधूः ।
कर्णालंकृति पद्मराग शकलं विन्यस्य चञ्चूपुटं
व्रीड़ार्ता प्रकरोति दाड़िमफल व्याजेन वाग् बन्धनम् ।।

अनुवाद— कुछ प्रेम-कथा की चर्चा थी, निशि में शुक ने जो सुन पाया
प्रातः गुरुजन के आगे ही, उसने वह कुछ कुछ दुहराया ।
लख यह झट लजवन्ती नवला शुक को यों मौन बनाती है
दाड़िम दाने से झुमके के मणि, उसे चुगाती जाती है ।।

३

गद्य-भाग के नमूने

हारजीत

[यह डाक्टर साहब की प्रथम प्रकाशित रचना 'शंकर दिग्विजय' का, जो पीछे संशोधित रूप में 'क्रान्ति' नाम से प्रसिद्ध हुआ, एक अंश है। नाटककार मिश्रजी की झलक दिखाने के लिए यह अंश दिया गया है।]

माहिष्मती का पनघट

(धीरे-धीरे पनिहारिनें आती हैं)

एक पनिहारिन—सखी, यह प्रभात कैसा है ?

दूसरी पनिहारिन—कवियों के हृदय-जैसा।

तीसरी पनिहारिन—और, उसमें यह स्निग्ध अरुण-राग कैसा है ?

चौथी पनिहारिन—नवीना के नवल अनुराग-जैसा।

पहली पनिहारिन—और, यह आकाश की उज्ज्वलता कैसी है ?

तीसरी पनिहारिन—सतोगुणी के तेज-जैसी।

चौथी पनिहारिन—और, उसमें यह पक्षियों का कलरव कैसा है ?

पहली पनिहारिन—महात्माओं के आशीर्वाद-जैसा—जीवन-समर में गीतागान-ऐसा।

तीसरी पनिहारिन—वाह, आज तो अच्छा प्रभात-वर्णन हो रहा है।

(शंकर शिष्यों सहित आते हैं)

शंकर—बहनो, मीमांसक मंडन मिश्र का स्थान कहाँ है ?

पहली पनिहारिन—परदेशी, तुम कौन हो ?

शंकर—लोग मुझे शंकराचार्य कहते हैं।

दूसरी पनिहारिन—क्या दिग्विजयेच्छु शंकराचार्य ?

शंकर—नहीं-नहीं, समाज-सेवक शंकराचार्य।

तीसरी पनिहारिन—तुम कोई भी हो, लौट जाओ। इधर इस वेश से आने का दुस्साहस न करो।

शंकर—क्यों माता, ऐसा क्यों ?

पहली पनिहारिन—आर्य मंडन को यह वेश नहीं सुहाता। और फिर इस समय तो वे श्राद्ध-कृत्य में लगे हुए हैं। संन्यासी के दर्शन-मात्र से कार्य अशुद्ध हो जायगा। तुम्हारे अनलोपम गेरुए कपड़े उनके कोपानल को प्रज्ज्वलित करने के लिए घृताहुति का काम दे सकते हैं। तुम्हें महामहिम मंडन पंडित का प्रभाव विदित नहीं है ?

शंकर—मुझे उन्हीं से काम है और वह भी इसी समय। मैं उन्हीं का प्रभाव देखना चाहता हूँ। मुझे केवल उनका घर बता दो।

तीसरी पनिहारिन—संन्यासी, क्या सूर्य भी संकेतों से बताया जा सकता है ? वह अपने प्रकाश से स्वयं-सिद्ध है। मंडन के गृह के चारों ओर सरस्वती का चमत्कार चक्कर लगाता है, लक्ष्मी हाथ बाँधे खड़ी रहती है। नगर के भीतर जाओ, तुम स्वयं ही पहचान जाओगे।

शंकर—फिर भी, कुछ अभिज्ञान तो देना होगा।

दूसरी पनिहारिन—अच्छा सुनो :

जहाँ शुक-सारिकाएँ ब्रह्म-विद्या पर बहस करतीं,
जहाँ की कोकिलाएँ साम गाकर मोद हैं भरती।
जहाँ पर यज्ञ का सौरभ पवन दिन-रात पाता है,
जहाँ का भव्य वैभव देख भूपति भी लजाता है।
जहाँ ये दृश्य अनुपम हे विदेशी ! देख पाओगे,
वहीं मंडन सुपंडित का भवन तुम जान जाओगे॥

शंकर—ओह, इतना प्रगाढ़ पांडित्य ! अच्छा, चलकर देखूँ।

(प्रस्थान)

एक पनिहारिन—अद्भुत संन्यासी।

दूसरी पनिहारिन—प्रखर तेज है।

तीसरी पनिहारिन—चलो देखें, अब आगे क्या होगा।

(सबका प्रस्थान)

पट-परिवर्तन

(मंडन मिश्र के गृह का भीतरी भाग। पुरोहित लोग बैठे हैं। श्राद्ध हो रहा है। शंकर ऊपर खिड़की के मार्ग से आते हैं।)

मंडन—(देखकर एकदम क्रुद्ध होकर) श्राद्ध में संन्यासी ! रे मुंडी, तू कहाँ से ?

शंकर—सिर से।

मंडन—मूर्ख, मैं मुंडन नहीं पूछता। तू कहाँ से आया मूढ़ ?

शंकर—ऊपर से ।

मंडन—(झुँझलाकर) यह तो मैंने भी देखा । लेकिन चोर, तेरा स्थान कहाँ है ?

शंकर—समस्त संसार ।

मंडन—(चिढ़कर) मेरे साथ दिल्लगी ! तेरे माँ-बाप कौन हैं, रे पामर ?

शंकर—कोई नहीं ।

मंडन—(क्रोध से काँपते हुए उठ खड़े होकर) तो यह शरीर कहाँ से हुआ ?

शंकर—मेरी लीला से ।

मंडन—तू कौन है ?

शंकर—जगत का आधार । चैतन्य ब्रह्म !

मंडन—अभी तेरी ब्रह्मता को शून्य में मिलाये देता हूँ ।

(श्राद्ध-पात्र उठाकर मारना चाहते हैं । भारती हाथ पकड़ लेती हैं ।)

भारती—नाथ !

(पुरोहित लोग चुपचाप चल देते हैं)

मंडन—समझा, तू ज्ञान की शेखी बघारने आया है । अच्छा, सामने आ, तुझे अभी सीधा कर दूँ ।

शंकर—मध्यस्थ कौन होगा ?

मंडन—क्यों, (चारों ओर देखकर) कोई नहीं है ? व्यास आदि सब चले गये ! अच्छा (कुछ सोचकर) और हो ही कौन सकता है ? मेरी स्त्री ही मध्यस्थ होगी ।

शंकर—कुमारिल की बहन स्वनामधन्य देवी भारती ?

मंडन—हाँ !

शंकर—मुझे स्वीकार है ।

मंडन—प्रिये !

भारती—नाथ !

मंडन—मैं इस दंडी से वाद करता हूँ । तुम मध्यस्था बनो ।

भारती—क्या, स्वामी के शास्त्रार्थ में मुझे मध्यस्था होना पड़ेगा !

मंडन—यह ज्ञान और अनुभव का विषय है—पक्षपात का नहीं ।

भारती—जो आज्ञा स्वामिन् ! परन्तु बौद्ध धर्म पर विजय पा लेने के बाद क्या वैदिक धर्म परस्पर की कलह करेगा ?

शंकर—यह कलह नहीं है देवि । यह ईश्वरीय अभिलाषा की जिज्ञासा है । देखना यही है कि वैदिक धर्म के इन दो रूपों में ईश्वर को किसका प्रचार अभिमत है ।

मंडन—अच्छा संन्यासी, सामने आओ। प्रिये, इनके लिए एक आसन लाकर डाल दो।

भारती—जो आज्ञा ! (जाती है। अलग हटकर, स्वगत) बड़ी विकट समस्या है। यदि मेरे पति वेद-विद्या में ब्रह्मा हैं तो यह संन्यासी भी—जान पड़ता है—तत्त्वज्ञान में साक्षात् शंकर है। इन दोनों के विवाद में मुझे मध्यस्था होना पड़ा ! पक्षपाती प्रेम और निष्ठुर न्याय को मैं अबला एक साथ कैसे सँभाल सकूँगी ! हे जगत्पिता ! हे दयासागर और साथ ही हे न्यायनिधे ! मुझे बल दो ! (मंच के किनारे दो आसन लाकर डाल देती है।)

भारती—भगवन्, मैं समझती हूँ कि आप दोनों विद्वानों का विवाद शीघ्र शान्त न होगा। ऐसी अवस्था में मैं अपना गृह-कार्य छोड़कर अधिक काल तक बैठी नहीं रह सकती। इसलिए मैं चाहती हूँ कि मैं दो मालाएँ आप दोनों के कंठ में डाल दूँ। जो हारेगा उसकी माला आप ही सूख जायगी और दूसरे की वैसी ही ताजी बनी रहेगी। मुझे विश्वास है कि मैं अपनी निर्णय-बुद्धि का आरोप इस प्रकार मालाओं में कर सकती हूँ।

शंकर—मुझे स्वीकार है। देवि, मैं सती के प्रताप से परिचित हूँ।

भारती—(दोनों को मालाएँ पहनाकर उन दोनों को आसनो पर स्थापित कराकर और स्वतः अलग हटकर) हार-जीत का निर्णय अपने मुख से न सुनाना पड़ेगा यही बहुत है। परन्तु हृदय, तू इतना अधीर क्यों हो रहा है ? क्या स्वामी कभी हार सकते हैं ?

(प्रस्थान। धीरे-धीरे शास्त्रार्थ-दर्शनार्थी स्त्री-पुरुष आ-आकर बैठते जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

उसी घर का दरवाजा

एक पनिहारिन—बहन भारती !

भारती—(दरवाजा खोलकर बाहर आते हुए) ओ हो बहन कल्याणी ! आओ-आओ।

पनिहारिन—शास्त्रार्थ हो रहा है ?

भारती—अवश्य। वह तो न जाने कितने दिन चलेगा। (पनिहारिन को भीतर ले जाती है।)

दूसरी पनिहारिन—(दूसरी ओर से बाहर आकर) बहन भारती !

भारती—(उसी प्रकार दरवाजे से बाहर आकर) कौन ? बहन प्रियंवदा ! आओ बहन ! लगभग एक महीने तक चलने वाले इस अनोखे शास्त्रार्थ को तुमने किसी भी दिन नहीं छोड़ा है। (दोनों का भीतर जाना।)

एक पड़ोसी—(आकर) देवी भारती ! क्या मैं आ सकता हूँ ? मुझे खेद है कि मैं पिछड़ गया ।

भारती—(बाहर आकर) संकोच ने किवाड़ बन्द रखने के लिए मुझे बाध्य कर दिया है, परन्तु आपके समान ज्ञान-वयोवृद्ध सज्जन के लिए मेरे घर के दरवाजे सदा ही खुले हुए समझिए । आपका सादर स्वागत है । आइए, पधारिए । (दोनों का भीतर प्रस्थान) ।

फिर पट-परिवर्तन

(शास्त्रार्थ-दर्शनार्थी पूर्ववत् बैठे है । प्रसन्न शंकर नतमस्तक मंडन को पकड़े हुए अपने आसन से उठकर सामने आते है । मंडन की माला कुम्हलाई हुई है । भारती खड़ी है ।)

शंकर—बोलो भारती, कौन हारा ?

भारती—संन्यासी, क्या तुम स्वयं नहीं देख सकते ?

शंकर—तो क्या मंडन मिश्र हार गये ?

भारती—निस्सन्देह ।

शंकर—तो फिर मंडन, तुम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यास धारण करो और मेरा शिष्यत्व स्वीकार करो ।

भारती—लेकिन संन्यासी, विजय-मद में इतनी जल्दी चूर न होओ ।

शंकर—ओह ! देवि, इतने बड़े विद्यादिग्गज पर विजय पाकर किसे अभिमान न होगा ?

भारती—परन्तु तुमने अभी विजय पाई ही कहाँ है ?

शंकर—(चौंककर) क्या अभी इसमें भी संदेह है ?

भारती—अभी तुमने आधे अंग पर ही विजय प्राप्त की है ।

शंकर—इसका क्या अर्थ ?

भारती—मैं स्वामी की अर्धांगिनी हूँ । मुझे पराजित किये बिना तुम विजयी नहीं कहला सकते ।

शंकर—क्या तुम स्त्री होकर शास्त्रार्थ करोगी ?

भारती—क्यों, क्या स्त्रियों में पुरुषों के समान तर्क-बुद्धि और शास्त्रीय ज्ञान नहीं होता ? क्या वे पुरुषों से कम हैं ?

शंकर—नहीं देवि, मैं उन्हें कम नहीं कहता । किन्तु फिर भी क्या पुरुषों से शास्त्रार्थ करने में स्त्री की शोभा होगी ?

भारती—मैं मानती हूँ कि भरी सभा में घंटों बहस करना पुरुषों ही को शोभा देता है, लज्जाशील कुलांगनाओं के योग्य यह कार्य नहीं है । फिर भी संन्यासी, तुम पूज्या गार्गी का हाल जानते हो । उसी प्रकार मुझे भी जिज्ञासा

वाली स्त्री समझ लो। साथ ही, तुम शान्त और सतोगुणी संन्यासी हो। तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ करने में मेरी हीनता न होगी। (सहसा स्वर बदलकर) और इतने तर्क की आवश्यकता ही क्या है? मैं अपने पति की अर्धांगिनी हूँ, शास्त्रार्थ की शक्ति रखती हूँ और आपको चुनौती दे रही हूँ। आप मुझे हराये बिना विजेता कदापि नहीं कहला सकते।

शंकर—अच्छा देवि, प्रश्न करो।

भारती—तुम उत्तर न दे सकोगे संन्यासी।

शंकर—मुझे विश्वास है कि मैं अवश्य उत्तर दे सकूँगा।

भारती—संन्यासी, तुमने ब्रह्म, जीव और माया की समस्याएँ हल कर डाली होंगी, परन्तु अभी दुनिया नहीं देखी है। तुमने ब्रह्मसूत्रों के सब तार टटोल डाले होंगे, परन्तु एक नर-हृदय को एक नारी-हृदय से बाँधने वाले भगवान कुसुमायुध के सूत्र का तुमने अनुभव नहीं किया है। संन्यासी! कहो कलानाथ की कला पाकर किस तिथि में कामिनी का कौनसा अंग विशेष कमनीय हो जाता है?

शंकर (लज्जित होकर)—देवि, मैं कायल हुआ। स्वभावतः ही इस विषय में अब तक अपूर्ण हूँ। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे एक महीने का अवकाश दो।

भारती—(हाथ उठाकर उँगली से निर्देश करती हुई) अच्छा जाओ, अवकाश दिया।

(नीचा सिर किये हुए शिष्यों सहित शंकर का धीरे-धीरे प्रस्थान। मंडन मिश्र कृतज्ञता की मुद्रा से भारती को देखते हैं। दर्शक कभी भारती को कभी शंकर को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। भारती स्थिर रहती है।)

(पटाक्षेप)

भाव

[‘जीव-विज्ञान’, जिसका नाम वस्तुतः जीवन-विज्ञान होना चाहिए था, मानस-शास्त्र का ग्रन्थ है जो सन् १६२८ में प्रकाशित हुआ। उसमें भारतीय शब्दावली के द्वारा मनोविज्ञान का विषय समझाया गया है और दार्शनिक तत्त्वों तथा कर्तव्य-शास्त्र, सौंदर्य-शास्त्र आदि विषयों का भी समावेश कराया गया है। पूरा वर्ण्य विषय पच्चीस सूत्रों में संक्षिप्त किया जाकर उन्हीं की व्याख्या के रूप में विस्तृत किया गया है। इस प्रकार भारतीय चिन्तनधारा के सुप्रसिद्ध षट्दर्शनों की पद्धति का यह सातवाँ दर्शन डाक्टर साहब ने रचा था जिसका पहला सूत्र है “अथातो जीव जिज्ञासा”, ठीक उसी प्रकार जैसे वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) का पहला सूत्र है “अथातो ब्रह्म जिज्ञासा”। इस ग्रन्थ के अठारहवें सूत्र की व्याख्या का एक अंश नीचे दिया जा रहा है।]

जो मनुष्य भावहीन है वह दो कौड़ी का है क्योंकि उसके ज्ञान और क्रिया दोनों में फीकापन और रूखापन ही रहेगा। न तो ज्ञान के साथ उसकी तन्मयता होने पायगी और न क्रिया के साथ रोचकता आने पायगी। भाव ही के कारण तो हमारे ज्ञान अथवा कर्म में हमारी लगन लगती है। यदि यह लगन न रही तो हमारा ज्ञान कोरा बकवास है और हमारे कर्म एक निर्जीव यन्त्र के नियमबद्ध कार्य ही होंगे। फिर भी इस बकवास और नियमबद्ध कार्य की पूर्ति भी भाव के एकान्त अभाव में नहीं हो सकती। इसलिए जो मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म की उपलब्धि में ही लगे रहते हैं और भावों की उपेक्षा करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। असल में तो ज्ञान और कर्म दोनों ही हमारे भावों के साधक हैं। ये भाव ही तो हमारे आन्तरिक विकार हैं इसलिए इन पर तो हमारा सबसे पहले ध्यान जाना चाहिए। भक्ति-मार्ग वालों का जो कहना है कि ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग तो साधन रूप है, भक्ति-मार्ग ही स्वयं साध्य अतः अभीष्टतम मार्ग है, सो बहुत अंशों में ठीक है।

भावाधिक्य अथवा दिल की लगन सदैव ही प्रशंसनीय है, चाहे वह सन्मार्गगामी हो, चाहे उन्मार्गगामी। महात्मा तुलसीदास नम्बर एक के विषय-विलासी थे। अपनी पत्नी की ओर उनका इतना भावाधिक्य था कि उन्होंने मुर्दे को नाव समझ लिया और साँप को रस्सी मान लिया। जब उनके हृदय-सिंहासन में रामा (पत्नी) के स्थान में राम की मूर्ति स्थापित कर दी गयी तब वे ही अपने उसी भावाधिक्य के कारण नम्बर एक के भक्त शिरोमणि बन बैठे। अशोक पहले अत्यन्त ही क्रूरकर्मा था परन्तु जब उसके चित्त ने पलटा खाया और क्रूरता का भाव करुणा में परिणत हो गया (अथवा यों कहिए कि क्रूरता का आसन करुणा ने ले लिया) तब वही अशोक अपने उसी भावाधिक्य के कारण परम कारुणिक बनकर अपना नाम अजर-अमर कर गया। यदि इन

महानुभावों में वह भावाधिक्य न होता तो क्या वे ऐसे अद्वितीय बन सकते थे ? जो मनुष्य आज अपनी दुर्भावनाओं के कारण समाज से अत्यन्त तिरस्कृत है कल वही अपने उसी भावाधिक्य के कारण समाज का परम गुरु बन सकता है। इसके विपरीत जो आज भावाधिक्य के कारण समाज का परम हितैषी है वही कल उसका परम शत्रु भी हो सकता है। 'काला पहाड़' का उदाहरण इसके लिए पर्याप्त है। परन्तु जिस मनुष्य में भावाधिक्य अथवा सच्ची लगन है ही नहीं, वह तो न इधर का है न उधर का है। जब तक यह लगन हमारे हाथ नहीं लगी है तब तक भाव-साम्राज्य में हम अपना विकास कर ही नहीं सकते। इस लगन को अपने हस्तगत करना हमारी ही इच्छा पर निर्भर है। इस संसार में हमारे रुचिवर्धक पदार्थ अनेक रहा करते हैं। ऐसे किसी भी अच्छे पदार्थ अथवा विषय में अपने चित्त को स्वच्छन्द रूप से लगाते रहने से ही उस ओर हमारी स्वाभाविक और सच्ची लगन लग जाती है। इस प्रकार यह लगनरूपी रसायन सहज ही हमारे हाथ आ जाती है। फिर तो यह जिस भाव में अर्पित हो सके उसी में कमाल कर दिखाती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि हमारे भावों की संख्या अनेक है। इनमें से कई क्षुद्र हैं, कई उच्च और महान है, कई हेय है और कई उपादेय है। यथा, विषयोपभोग का भाव देश-सेवा के भाव से बहुत क्षुद्र है। कोरी जलन अथवा सूखी ऐंठ का भाव हेय है और सन्तोष, शान्ति आदि का भाव उपादेय है। फिर साथ ही यदि हमारे किसी भाव का विषय क्षुद्र होगा तो वह भाव क्षुद्र कह-लाएगा परन्तु वही भाव किसी अच्छे विषय की ओर अर्पित कर दिया जाएगा तो महान कहाएगा। यथा, कांचन अथवा कामिनी-प्रेम क्षुद्र है परन्तु स्वदेश अथवा ईश-प्रेम प्रशंसनीय है। अब, हमारे भावों के सम्मुख सदा अच्छे विषय ही रखना तथा क्षुद्र और हेय भावों की अलग छटनी करके उच्च और उपादेय भावों ही का हमें सम्यक् ज्ञान और बोध कराना बुद्धि का काम है। हम बुद्धि ही के कारण अपने उत्तमोत्तम भाव पहचान सकते हैं और उनके विकास के लिए उत्तमोत्तम विषय उनके सम्मुख रख सकते है। जो मनुष्य मानव स्वभाव की परख करके उसके सद्भावों को सन्मार्ग में उकसा सकता है उसे हम सफल समाज-सेवक अथवा समाज-सुधारक कहते है।

प्रभावशाली उपदेशक अथवा व्याख्यानदाता (orator) लोग श्रोताओं के ऐसे ही भावों को उकसाकर उन्हें मन्त्रमुग्ध-सा बनाकर कठपुतली की तरह नचा सकते हैं। वे यह पहचान लेते हैं कि मानव-हृदय के हारमोनियम में किस भाव के परदे को दबाकर कौनसा सुर निकाला जा सकता है। इसी अनुभव के कारण वे बड़े-बड़े राक्षसों को देवोपम बना सके हैं, बड़े-बड़े सिंहासनों को उलट-पुलटकर नष्ट कर सके हैं, बड़ी-बड़ी अघटित घटनाएँ

सफलतापूर्वक घटित कर सके हैं। रोम के राष्ट्रपति जूलियस सीजर को व्यक्तित्व-उपासक और महत्वाकांक्षी समझकर उसी के परममित्र राष्ट्रवादी ब्रूटस ने उसका वध कर डाला। ब्रूटस ने जब रोम राष्ट्र की जनता के सामने अपने इस कृत्य की घोषणा की तब व्यक्तित्व-उपासना और महत्वाकांक्षा की विरोधिनी जनता ने ब्रूटस को अनेक साधुवाद दिये। अन्टोनी भी जूलियस सीजर का एक मित्र था। उसने भी कुछ कहने की अनुमति माँगी। उसे इस शर्त पर अनुमति दी गयी कि ब्रूटस अथवा उसके साथियों की वह किसी प्रकार निन्दा न करे। उसने यह कबूल किया और अपनी वक्तृता के समय उसने श्रोताओं के करुणा भाव, वीरपूजा भाव और उदारता भाव के परदे इस खूबी से दबाये कि जनता जूलियस सीजर की बहादुरी पर मुग्ध होकर और उसकी उदारता के प्रमाण भी न माँगकर तथा उसकी खून से लथपथ लाश को देखकर यह निश्चय कर बैठी कि उसके साथ घोर अन्याय किया गया है। उस जनता ने उसी भावावेश में ब्रूटस और उसके साथियों का काम तमाम कर दिया। (यह विषय शेक्सपियर ने अपने नाटक में बड़ी खूबी के साथ लिखा है।) यह सब उस चतुर वक्ता की कारीगरी थी जिसके कारण उसे अभीष्ट फल मिला। रूसो ने भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की जागृति का संदेश देकर वैषम्य-प्राप्त पददलित फ्रांसीसी जनता की क्रियाशीलता अथवा महत्वाकांक्षा के भाव को इस खूबी से उकसाया कि जिसका फल फ्रांस की इतनी बड़ी राज्य क्रान्ति के रूप में फल उठा। भारत में नाना साहब आदि ने भी इतना भयंकर सिपाही-विद्रोह खड़ा कर देने के लिए सिपाहियों की धर्मान्धता ही के भाव पर तो कुंजी घुमाई थी।

ऐसे अनुभवी और चतुर वक्ताओं तथा लेखकों की तो बात ही दूसरी है। कभी-कभी तो साधारण-से वाक्य अथवा व्यंग्य की चोट ऐसी करारी होती है जो मनुष्य को एकदम कुछ का कुछ कर देती है। बालक ध्रुव अपने पिता की गोद में ही बैठना चाहते थे परन्तु उनकी विमाता ने यह कहकर उन्हें ढकेल दिया कि "तुम इस स्थान के योग्य नहीं हो।" यह बात उन्हें ऐसी लगी कि उन्होंने आश्चर्यजनक भीषण तपस्या करके एकदम ध्रुव स्थान ही प्राप्त कर लिया। हिन्दी के भूषण कवि कुछ काम-धाम न करते थे। बड़े भाई की कमाई में बैठे रोटियाँ तोड़ा करते थे। एक दिन दाल में नमक कम हो गया। उन्होंने भौजाई से शायद इस कमी का जवाब तलब किया। भावज ने तुरन्त ही कहा—"लाला! क्या नमक कमाकर लाये थे जो आँखें दिखाते हो?" भूषण के हृदय में यह बात तीर-सी जा लगी और वे उसी समय बाहर निकल गये। फिर उन्होंने जब तक एक लाख रुपये का नमक खरीदकर घर न भिजवा दिया तब तक चैन न लिया। तुलसीदास जी ने जिस समय अपनी स्त्री के पीछे दीवाने

बनकर उसके कमरे में प्रवेश किया था उस समय उसने यही तो कहा था कि "यदि ऐसी प्रीति राम जी में होती तो कितना अच्छा होता !" परन्तु वह वाक्य क्या था एक प्रत्यक्ष साबर मन्त्र था जो एक बार उच्चारित होते ही अपना प्रभाव पूरा दिखा गया। इन तीनों वाक्यों में कोई विशेष प्रभाव न था परन्तु वे ऐसे समय कहे गये थे जब श्रोता की अपने आराध्य विषय की ओर सच्ची लगन लग रही थी। इसलिए इन वाक्यों ने झटपट उसे अपनी सच्ची स्थिति का अनुभव करा दिया और उसके सोये हुए उदात्त भाव को बुद्धि का चाबुक मारकर एकदम जगा दिया। फल यह हुआ कि वह लगन झट उस उदात्त भाव की ओर मोड़ खा गयी। ध्रुव की सच्ची लगन पिता की गोद में बैठने की थी। विमाता के कठोर वाक्य की ठोकर खाकर उनमें स्वात्माभिमान का भाव जागृत हो उठा और वह लगन एकदम तपस्या की ओर लग गयी। इसी प्रकार भूषण की लगन सुस्वादु भोजन, और तुलसीदास जी की लगन पत्नी की ओर लग रही थी। वाग्बाण से बिद्ध होकर दोनों को अपनी हीनता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और दोनों के प्रयत्नशील उदात्त भाव जागृत हो उठे और दोनों ही की लगन सुमार्ग की ओर लग गयी। स्वामी विवेकानन्द का भी आस्तिकत्व की ओर भाव-परिवर्तन ऐसा ही था। कहाँ तक कहें, इसके अनेकों उदाहरण भरे पड़े है।

जो मनुष्य दूसरों के स्वभाव का एकदम सुधार करना चाहते हैं वे ऐसी ही लगन का अवसर देखा करते है। और उपयुक्त अवसर आने पर वे ऐसी किसी प्रसुप्त भावना पर अपने वचनों का रामबाण चलाते हैं जिसकी चोट खाकर वह आदमी एकदम तिलमिला उठता है और उसके भाव में अभीष्ट परिवर्तन आप ही आप हो जाता है। यदि उस लगन का अवसर नहीं आता है तो वे लोग प्रयत्न करके वैसी लगन का अवसर ले आते है। प्रवीण लेखक अथवा कवि लोग ऐसी ही घटनाओं और भावों का क्रम बाँधकर सहृदय श्रोताओं के हृदयों में अपनी सूक्तियों की अचूक चोट चला देते हैं। कवि नरहरि ने जिस समय—

> अरिहु दन्त तिन धरत तिनहि मारत न सबल कोइ।
> ये प्रतच्छ तिन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
> हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं।
> अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महि थंभन जावहिं।
> कह नरहरि सुनु अकबर नृपति, कहत गऊ जोरे करन।
> केहि कारन हम कहँ मारियत, मुएहु चाम सेइय चरन।।

इस भावपूर्ण छप्पय के द्वारा बादशाह के मन में गाय की उपयोगिता के विषय की सच्ची लगन उत्पन्न करके हिंसा-विरोधिनी करुणा के भाव पर चाबुक लगाई उसी समय यह छप्पय मन्त्र अकबर के ऊपर असर कर गया

ग्रौर उसने तुरन्त ग्राज्ञा निकालकर ग्रपने साम्राज्य भर में गोबध बन्द कर दिया। ग्रब, कितनी लगन होने पर यह भाव-परिवर्तन हो सकता है ग्रौर इसके लिए किस ग्रवसर पर कितनी मात्रा में किस भाव को उकसाना चाहिए तथा इसके लिए कैसे वाक्यों का किस ढंग से कितने शब्दों में प्रयोग करना चाहिए, इस सबके लिए कोई स्केल या नुसखा निश्चित कर देना बहुत ही कठिन है। यह एक कला है जो मनुष्य को ग्रनुभव ही से ग्राती है, ग्रन्थ रटने से नहीं। कभी-कभी तो मनुष्य हजारों वाग्बाण सहर्ष सहता है ग्रौर कभी एक हल्के ताने का झोका खाकर एकदम ग्रात्महत्या कर बैठता है। कभी वह हजारों निरीह बालकों ग्रौर लाखों कलपती कन्याग्रों पर नृशंस ग्रत्याचार कर सकता है ग्रौर कभी-कभी एक ग्रसहाया बालिका की ग्राँखों में केवल दो बूँद ग्राँसू देखकर वह पानी-पानी हो सकता है। ये ही तो मानव हृदय की जटिलताएँ हैं जिनका रहस्य भेद केवल ग्रन्थावलोकन ही से नहीं हो सकता बल्कि स्वयं ग्रनुभव करके हो सकता है।

['जीव-विज्ञान' से]

भक्तिमार्ग के गुण-दोष

[डाक्टर साहब का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है 'तुलसी दर्शन' जिस पर ग्रापको नागपुर विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की सर्वोच्च उपाधि प्रदान की है। उसका एक ग्रंश नीचे उद्धृत किया जा रहा है जिससे वर्ण्य विषय ग्रौर विवेचन शैली की झाँकी मिल सकती है।]

इस मार्ग का पहला गुण तो यह है कि यही वास्तव में लोकधर्म कहाने योग्य है। श्रीमद्भागवत के ग्रनुसार कामनावान् क्रियाशील व्यक्तियों के लिए कर्ममार्ग, वैराग्यशील ग्रौर तार्किक प्रवृत्तिवालों के लिए ज्ञानमार्ग, तथा मध्यमावृत्ति वालों के लिए भक्तिमार्ग है। जनता ग्रधिकांश में मध्यमावृत्ति वाली (न एकदम विरक्त न एकदम ग्रतिसक्त) होती है। इसीलिए भक्तिमार्ग सर्वसाधारण को सदैव रुचिकर रहता ग्राया है। यहाँ एक बात जान लेने योग्य है। वास्तव में तो कर्म, भक्ति ग्रौर ज्ञान इन तीनों के समन्वय के बिना कोई मार्ग शुद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए विशुद्ध भक्तिमार्ग भी ग्रसल में समन्वय मार्ग ही है जिसमें कर्म का ग्रंश विरति (ग्रनासक्ति) के रूप से ग्रौर ज्ञान का ग्रंश विवेक (तत्त्व-साक्षात्कार) के रूप से समाया हुग्रा है। समन्वय मार्ग होते

हुए भी इसमें प्रेम की प्रधानता है इसलिए यह मार्ग भक्तिमार्ग कहाता है। प्रेम आरम्भ से ही आनन्दप्रद होता है। इसलिए यह मार्ग न केवल सुगम है वरन् वैसा ही सुखद भी है। इस मार्ग में न तो कठोर क्रियाओं की आवश्यकता है न गम्भीर चिन्तन की। यह पथ किसी मरुस्थल के पथ के समान नहीं है जो समाप्त होकर ही हमें कृतकृत्यता प्रदान करे—हरितभूमि के दर्शन कराए। इसे तो अविनाशी मीनाबाजार का वह राजपथ समझना चाहिए जिसके पद-पद पर आनन्द ही आनन्द है।

इस मार्ग का दूसरा गुण यह है कि इस पर चलकर न केवल मनुष्य भुक्ति और मुक्ति के फल प्राप्त कर सकते हैं वरन् लीला के अनुपम आनन्द का भी भरपूर उपभोग कर सकते हैं। यह मार्ग कोई मृगमरीचिका नहीं है। इष्टदेवों का अस्तित्व उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार उनके भक्तों का और भक्तों की भावनाओं का। मनुष्य की इच्छाशक्ति अखण्ड चैतन्य परब्रह्म परमात्मा का ही चमत्कार है। इसलिए उस इच्छाशक्ति द्वारा इष्टदेव का निर्माण भी "भगतन हितलागी" ब्रह्म का ही सगुण साकार बनना कहा जायगा। पूर्व के महात्माओं ने इष्टदेव की कल्पना करके उनके दर्शन कर लिये। जब एक बार इष्टदेव का दर्शनीय व्यक्तित्व बन गया तब तो परवर्ती भक्तों के लिए वह रूप और भी सुलभ हो गया है। विभिन्न स्थलों और विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों ने एक ही इष्टदेव पर अपना ध्यान जमाकर उनकी सत्ता और शक्ति को और भी दृढ़ कर दिया है। राम और कृष्ण के समान ऐतिहासिक महापुरुषों में इष्टदेवत्व का स्थापन होने से उनके व्यक्तित्व की सत्यता तो सामान्य जीवों के अस्तित्व की सत्यता से भी अधिक सत्य हो गयी है। ऐसे इष्टदेव अवश्य ही हमारी प्रार्थनाएँ सुनते और हमारी मनःकामनाएँ पूर्ण करते हैं। हमारी शक्ति ससीम है और उनकी शक्ति असीम। हम अपने प्रयत्न से जो कुछ प्राप्त कर सकते हैं उससे अधिक अनायास ही उनकी कृपा से प्राप्त कर सकते हैं। जब वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं तब फिर उनके दरबार में क्या कमी है। वे इस लोक के सब ऐश्वर्य दे सकते हैं, परलोक के सब कल्याण हमें दे सकते हैं, मुक्ति की दिव्य शान्ति हमें दे सकते हैं और प्रेम के प्रमोदमय लीलालावण्य में भी हमें मस्त बनाये रख सकते हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि इष्टदेव पर भक्ति करते हुए भी अभीष्ट फलप्राप्ति शीघ्र नहीं होती। ऐसी स्थिति में इष्टदेव के अस्तित्व पर ही शंका करने लग जाना अथवा भक्तिमार्ग को ही निन्दनीय कहने लगना सरासर अनुचित है क्योंकि साधक का प्रारब्ध, लोकसंग्रह की दूरदर्शिता, अनुराग की अपरिपक्वता आदि ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे हमारे इष्टदेव फल प्रदान करने में देर कर दिया करते हैं।

इस मार्ग का तीसरा गुण यह है कि इस पर चलकर हमारा हृदय सबल और सरस बन जाता है। थोड़ी देर के लिए यदि मान भी लिया जाय कि इष्टदेव का वास्तविक व्यक्तित्व है ही नहीं अथवा यदि वे हैं भी तो हमारी पुकार की ओर उदासीन ही रहा करते हैं, तो भी यह तो निश्चित है कि उनके सौन्दर्यमय अस्तित्व पर श्रद्धा और विश्वास दृढ़ करते जाने से हमारे आस्तिक्य-भाव, इच्छाशक्ति और प्रेमानन्द की वृद्धि होती ही जायगी। इन बातों को तो हमसे कोई छीन नहीं सकता। आस्तिक्यभाव के कारण जहाँ एक ओर हम लोक-कल्याण के लिए प्रवृत्त होते रहेंगे वहाँ दूसरी ओर विषम परिस्थितियों में भी भगवान का भरोसा रखकर एक सच्चे आशावादी की भाँति अपना धैर्य अटल रख सकेंगे। इच्छाशक्ति की वृद्धि से तो हम न जाने क्या-क्या पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं, न जाने कैसे-कैसे असाध्य कार्य सिद्ध कर सकते हैं। प्रेमानन्द की उपयोगिता के लिए जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। मुक्ति का आनन्द अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा भक्ति का, इस प्रश्न के उत्तर में बहुमत भक्ति के आनन्द (प्रेमानन्द) ही की ओर झुक रहा है। इस प्रेमोन्माद के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि प्रेमपात्र हमारा होकर रहे। यह भी आवश्यक नहीं है कि वह हमारे प्रेम को स्वीकार करे। यह भी जरूरी नहीं कि वह वास्तविक सत्तावान ही हो और कल्पित न हो। प्रेम करते-करते प्रेम में ही वह आनन्द आने लगता है कि फिर प्रेमपात्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिए सच्चा भक्त केवल भक्ति के आनन्द के लिए भक्ति करता है। उसके सामने न तो कामना पूर्ति का सवाल उठता है और न प्रेमपात्र को अपनाने का।

इन गुणों के अतिरिक्त और भी अनेक गुण गिनाये जा सकते हैं। जो तीव्र श्रद्धा वाले व्यक्ति हैं उनकी तो बात ही अलग है परन्तु जो मन्द श्रद्धा वाले हैं वे भी इस मार्ग से पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इष्टदेव में आदर्शपूर्णत्व मानने के कारण मनुष्य आप ही आप आदर्श की ओर खिचता चला जाता है। और इस प्रकार सरलतापूर्वक विकसित होता चला जाता है। दूसरी बात यह है कि इष्टदेव की महत्ता के अनुभव के कारण उसका अहंकार आप ही आप दूर होता जाता है। तीसरी बात यह है कि शान्ति के साथ कुछ देर भगवान का स्मरण करने से मन को विश्राम का अवसर मिल जाता है और वह नई-नई बातें भलीभाँति सोच तथा सुझा सकता है। इसी प्रकार के और भी अनेक लाभ बताये जा सकते हैं।

संसार गुणदोषमय है इसलिए इस मार्ग में जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी गिनाये जा सकते हैं। पहला दोष तो यह है कि इष्टदेवों की (नाम-रूपात्मक इष्टदेवों की—परब्रह्म परमात्मा की नहीं) संख्या अनेक होने के

कारण उनके उपास्य लोग आपस में झगड़ने लग जाते हैं। वैष्णव लोग विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मानकर शिव-गणेश आदि को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते है। शैव लोग शिव को सर्वश्रेष्ठत्व प्रदान करके अन्यों के इष्टदेवों को सामान्य दृष्टि से देखने लग जाते हैं। विभिन्न धर्मों तथा विभिन्न सम्प्रदायों में इस तरह इष्टदेव के नाम-रूप भेद के कारण बड़े झगड़े मच जाया करते हैं। जो विचारवान लोग हैं वे तो इन झगड़ों को निर्मूल समझकर शान्त रहते हैं पर सर्वसाधारण के मन से तो इष्टदेवों का यह भेद कठिनता ही से हटाया जा सकता है। दूसरा दोष यह है कि अन्धश्रद्धा के कारण लोग अक्सर इष्टदेव की 'मर्जी' पर इतने अधिक निर्भर हो जाते हैं कि वे व्यवहार में भी स्वावलम्बी बनना छोड़कर एकदम आलसी और निकम्मे-से हो रहते हैं तथा अपनी कमजोरियों और आपत्तियों का दोष ईश्वर (इष्टदेव) के मत्थे मढ़कर चुप हो जाया करते हैं। जब ईश्वर ने हमें विवेक दिया है, कार्य करने की शक्ति दी है और उपयुक्त शरीर तथा परिस्थिति के साधन प्रदान किये हैं, तब उनका समुचित उपयोग न करके एकदम परवशता धारण कर ली जाय यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। परन्तु इतना जानते हुए भी लोग इस विषय में कभी-कभी विशेष भ्रान्ति उत्पन्न कर ही लिया करते हैं। तीसरा दोष यह है कि अन्धविश्वास का प्राबल्य कभी-कभी इतना अधिक हो जाता है कि लोग दम्भियों के चक्कर में पड़कर दुख भी खूब उठाते हैं। दुनिया में सन्त वेषधारी सभी लोग वास्तविक सन्त नहीं रहा करते। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि ईश्वर के नाम पर अनेक पाखण्डी दुनिया को खूब ठग सकते हैं। फिर, वैधी भक्ति के विधानों पर अधिक जोर देने से आडम्बरप्रियता और सामाजिक विषमता की वृद्धि हो सकती है, प्रेम और सौन्दर्य भाव को अनुचित प्राधान्य देने से भक्तिमार्गी लोग विलासिता के दलदल में फँस सकते हैं और दैन्य को अत्यधिक महत्त्व देने से दासत्व की मनोवृत्ति बढ़कर व्यक्ति तथा समाज दोनों को हानि पहुँचा सकती है। इसी तरह के और भी कुछ दोष हैं। पर उन दोषों की उलझन में वे ही फँसते हैं जिन्होंने न तो सच्चे गुरु की सेवा की है, न सत्संग किया है, न सद्ग्रन्थों का मनन किया है और न सद्विवेक से काम लिया है। ऐसे-ऐसे दोषों को देखकर इस मार्ग को ही हेय अथवा गौण बता देना सरासर नासमझी है। काँटों के डर से कोई गुलाब को हेय नहीं बताता। मच्छरों के डर से कोई उपवन-विहार बन्द नहीं कर देता। कछुओं के डर से कोई तीर्थस्थान नहीं छोड़ देता।

गोस्वामी जी ने अपने भक्तिमार्ग को दोषों से बचाने की भरपूर चेष्टा की है। पहले दोष को मिटाने के लिए उन्होंने भारत के सम्मान्य इष्टदेवों का सामंजस्य कर दिया है और वह सामंजस्य इस खूबी से किया है कि किसी

इष्टदेव की ओर द्वेष अथवा तिरस्कार का भाव उठने ही नहीं पाता। दूसरे दोष को मिटाने के लिए तो उन्होंने स्वतः भगवान के मुँह से कहला दिया है कि जो नर शरीर पाकर भी परलोक के लिए प्रयत्नशील नहीं होता वह काल, कर्म और ईश्वर को मिथ्या ही दोष लगाता फिरता है। तीसरे दोष को मिटाने के लिए उन्होंने बाह्य आडम्बर को—जटा रखना, तिलक लगाना, मठ-मन्दिर की पद्धतियों को पूरा करना आदि को—अपने भक्तिपथ में कोई प्राधान्य दिया ही नहीं। फिर, न तो वे वैधी भक्ति के विधानों ही पर जोर देते हैं, न अपनी भक्ति के प्रेम और सौन्दर्य को 'सेव्य-सेवक-भाव' की मर्यादा से आगे बढ़ने देते हैं और न इस सेव्य-सेवक-भाव ही को वे ऐसा अमर्यादित होने देते हैं कि वह दास्य मनोवृत्ति उत्पन्न करके आत्महन्ता बन जाय।

['तुलसी दर्शन' से—सन् १९३८]

रामकथा

रामकथा वस्तुतः केन्द्रित हो रही है सीता के चरित्र पर। आध्यात्म रामायणकार ने कदाचित् इसीलिए इसे "सीतायाश्चरितं महत्" कहकर लिखा कि राम तो वास्तव में निर्गुण और निष्क्रिय हैं, उनकी जो लीला हुई, वह महामाया सीता जी की चमत्कृति है। कथा के पूर्व में है सीता-स्वयंवर, मध्य में है सीता-हरण और अन्त में है सीता-परित्याग। परित्याग का यह प्रकरण गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में नहीं ग्रहण किया। वाल्मीकि के अध्ययनशील विद्यार्थियों का कथन है कि न केवल सीता-परित्याग, किन्तु सीता-स्वयंवर भी क्षेपक ही है। मूल कथा है केवल सीता-हरण ही। उसको लेकर संस्कृति और सभ्यता के संघर्ष की कथा बड़े मजे में समझाई जा सकती है। जैसा कि हमने अपने 'भारतीय संस्कृति' नामक ग्रन्थ में लिखा है, धन अथवा समृद्धि या लक्ष्मी का प्रकृत अर्थ है कल्याणप्रद माधुर्य और विकृत अर्थ है आतंकवाद ऐश्वर्य। प्रकृति के साहचर्य के साथ जो समृद्धि प्राप्त होती है वह कल्याणप्रद माधुर्य वाली है और प्रकृति का शोषण करके जो समृद्धि प्राप्त होती है, वह आतंकप्रद ऐश्वर्य वाली है। अंग्रेजी का 'कल्चर' शब्द कृषि, ग्राम, प्राकृत-साहचर्य, कल्याणप्रद माधुर्य आदि से सम्बन्धित है और 'सिविलिजेशन' शब्द नगर, नागरपन (चतुराई), प्रकृति पर विजय और उसका शोषण (एक्सप्लॉइटेशन) आदि-आदि से सम्बन्धित होकर आतंकप्रद

ऐश्वर्य के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। राम का अर्थ है रमणीय और रावण का अर्थ है डरावना। समृद्धि-सीता का प्रकृत अर्थ ही राम (रमणीय) और विकृत अर्थ ही रावण (डरावना) है। समृद्धि तो अपने प्रकृत अर्थ ही की अनुगामिनी होगी, भले ही कुछ दिनों के लिए विकृत अर्थ उसका अपहरण कर ले जाय (अपने दायरे में हर ले जाय)। रावण की शोषण-नीति, उसकी समृद्धि-लोलुपता (लंका को सोने से भर देना), आदि-आदि प्रसिद्ध हैं ही, और राम की कल्याणप्रद माधुरी भी प्रसिद्ध ही है। 'सीता' का शब्दार्थ स्वतः ही कृषि अथवा कृष्टि (कल्चर या संस्कृति) होता है। अतः सीता-हरण की कथा (और उसके परिणामस्वरूप होने वाला राम-रावण युद्ध) हमारी कल्पना को संस्कृति और सभ्यता के संघर्ष का एक बड़ा सुन्दर चित्र दे देती है जिसका आकर्षण आज दिन के लिए भी नवीन ही हो जाता है।

दूसरी दृष्टि से देखिए तो रामकथा केन्द्रित हो रही है दो मुनियों के संकेतों पर। प्रथम मुनि हैं विश्वामित्र, जो राम को लिवा ले गये। उनके हाथों राक्षसों का वध और यज्ञ की रक्षा कराकर उन्होंने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सौहार्द्र उत्पन्न कराया। परिणामस्वरूप उन क्षत्रिय कुमार के संकेत पर गोतम मुनि ब्राह्मण ने अपनी परित्यक्त पत्नी को भी अंगीकार कर लिया। ये विश्वामित्र आगे बढ़े और धनुषयज्ञ में उपस्थित होकर तथा राम द्वारा धनुर्भंग कराकर इन्होंने भारत के दो प्रबल क्षत्रिय-कुलों में सम्बन्ध स्थापित कराया। सीता-विवाह के परिणामस्वरूप ही राम के यौवराज्य-उद्घोषण की बात सामने आई और उसी के परिणामस्वरूप बनवास प्रकरण आया और फिर चित्रकूट में भरत-मिलाप हुआ। विश्वामित्र के आगमन से लेकर भरत-भेंट तक घटनाचक्र तीव्र गति से बढ़ता गया है। इस घटनाचक्र के सूत्रधार, एक प्रकार से विश्वामित्र मुनीश्वर ही तो हैं। लौकिक अभ्युदय के सम्बन्ध की उनकी शक्ति विश्वविश्रुत है। स्वतः नरेश थे, परन्तु ऋषि वृत्ति के लिए उन्होंने राज्य का त्याग किया। अभ्युदय विषयक अपनी शक्ति उन्होंने इतनी बढ़ाई कि जगत्कर्ता से होड़ करके नई सृष्टि ही रच दी, परन्तु राजर्षि का प्रभावमय पद भी उन्होंने ब्रह्मर्षि-पद के चरणों पर चढ़ा दिया। बला अतिबला की विद्याएँ, कीर्ति, सीता और फिर यौवराज्य का वैभव—यह सब उन्हीं के प्रयत्नों से राम को मिला। परन्तु उनके अभ्युदय का ऐसा चमत्कार है, जिसकी परिणति हुई है अनासक्ति में, त्यागभावनायुक्त भोग में, "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" वाले सिद्धान्त में।

दूसरे मुनि हैं अगस्त्य जी जिनके पास राम स्वतः "मुनि-द्रोही मारण मंत्र" की दीक्षा लेने—अपने कर्तव्य-कर्म की दीक्षा लेने—पहुँचे थे। उत्तर के महापुरुष थे विश्वामित्र और दक्षिण के महापुरुष थे अगस्त्य जी। इन्होंने

पंचवटी का निवास बताकर दूसरे घटनाचक्र को तीव्रता से संचालित कर दिया। वह राक्षसों की विहार-भूमि थी ही। सूपर्णखा आई, खरदूपण-वध हुआ, सीता-हरण हुआ, सुग्रीव-मित्रता हुई, बालि-वध हुआ, सीतानुसंधान हुआ, विभीषण-मैत्री हुई, सेतुबंध हुआ, सीता-उद्धार हुआ और राम का प्रत्यावर्तन और उनका अभिषेक हुआ। अगस्त्य मुनि का जीवन ही निःश्रेयस् का जीवन है। परम कर्मशील होते हुए भी वे परम ज्ञानी हैं। उनका जो कुछ कार्य हुआ वह विश्व के कल्याणार्थ; अपने लौकिक स्व के लिए कुछ नहीं। राम ने भी इस उत्तरार्ध के घटनाचक्र में जो किया वह कर्तव्य की प्रेरणा से। इस चरित की परिणति है 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः" वाले सिद्धान्त में। वही सच्चा निःश्रेयस् है, जिसमें आसक्तिहीन कर्म का पूरा क्षेत्र निर्बाध उन्मुक्त हो।

इस दृष्टि से रामकथा, अभ्युदय-निःश्रेयस् का रहस्य बताने वाली धर्मकथा हो जाती है। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः"—यही तो धर्म की मान्य परिभाषा कही गयी है।

तीसरी दृष्टि से देखिए तो रामकथा केन्द्रित हो रही है तीन नारियों के कृत्यों पर। वे तीन नारियाँ हैं ताड़का, मन्थरा और सूपर्णखा। ताड़का के कारण विश्वामित्र-आगमन से लेकर सीता-विवाह तक की घटना घटी, मन्थरा के कारण राम-वनगमन की घटना घटी और सूपर्णखा के कारण सीता-हरण और रावण-वध की घटनाएँ घटीं। ताड़का है क्रोध-वासना, मन्थरा है लोभ-वासना और सूपर्णखा है काम-वासना। तीनों के चरित्र देख लीजिए तो ये वासनाएँ स्पष्ट हो जायँगी। ताड़का के मुनिद्वेष ने ही बालकाण्ड के चरित्र रचवाये। वह क्रोध की प्रतिमूर्ति नहीं तो क्या थी? मन्थरा की चाल निजत्व-परत्व के ममत्व पर ही तो आधारित थी। मेरी मालकिन का लड़का राजा क्यों न हो? राजा का ऐश्वर्य-सुख मेरी मालकिन और उसके वंशज क्यों न भोगें। ऐसा सोचकर इसी तरह का कार्य कर उठने वाली दासी लोभ-वासना की प्रतिमूर्ति नहीं तो और क्या है? सूपर्णखा के प्रस्ताव और उस समय के उसके क्रियाकलाप ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि वह मूर्तिमयी काम-वासना थी। काम, क्रोध और लोभ—ये ही तीन तो नरक के द्वार हैं, आत्महन्ता है, संसारचक्र के संचालक हैं : जीवन की उथल-पुथल के जिम्मेदार हैं। गीता ने ठीक ही कहा है : "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।" रामकथा के घटनाचक्र के जिम्मेदार भी ये ही तीन है। क्रोध मारा गया, लोभ लतियाया गया और काम नकटा-बूचा किया गया। कल्पना कहती है कि साधक रामकथा से ऐसा भी सबक सीखे।

['मानस में रामकथा' से—सन् १९५२]

मानस में उक्ति-सौष्ठव

['मानस माधुरी में' रामचरितमानस से सम्बन्धित तीस विचारपूर्ण निबन्ध हैं जिनमें मानस की महिमा की विषयवार चर्चा है, उसके विशिष्ट पात्रों का विवेचनात्मक चरित्र-चित्रण है, उसके विशेष-विशेष उपाख्यानों और प्रसंगों का मार्मिक स्पष्टीकरण है। उदाहरणस्वरूप 'मानस में उक्ति-सौष्ठव' उद्धरण नीचे दिया जाता है।]

मनुष्य समाज में जितनी कलाएँ प्रचलित है उनमें वक्तृत्व-कला का अपना निराला महत्त्व है। महाकवि भारवि ने ठीक ही कहा है—"भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चितां, मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।" वे विद्वानों में भी सभ्यतम हैं, जो मनोगत भाव को वाणी में निविष्ट कर लेते हैं। यों तो बातें सभी कर लेते है परन्तु बात-बात में अन्तर रहा करता है। एक मनुष्य वही बात इस भोंड़ेपन से कह देता है कि मुगलाई होती तो हाथी के पैरों से कुचलवा दिया जाता। दूसरा मनुष्य वही बात इस चतुरता से कह देता है कि राजसी युग होता तो हाथी पुरस्कार में पा जाता। "बातैं हाथी पाइयाँ बातैं हाथी पाँव।" जिसने वाक्-कौशल प्राप्त कर लिया है वह विभिन्न मनुष्यों और विभिन्न परिस्थितियों में भी अपना सिक्का जमाता जाता और सफलता पर सफलता प्राप्त करता जाता है। शिष्ट मनुष्य वह है जो वाक्-कौशल का धनी है। चतुर मनुष्य वह है जो अवसर की बात अवसर पर कहता है। रहीम कवि ने भी दोहों में इसी का समर्थन किया है—

"नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात," और, "फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि," इसमें से पहली सुहाती नहीं और दूसरी अच्छी लगती है।

रामचरितमानस मे सुन्दर शब्द-भण्डार, प्रभावशाली मुहावरेबन्दी, प्रासादिक वाक्य-पुंजों और चुभती हुई चटकदार उपमाओं तथा दृष्टान्तों की भरमार तो है ही—और ये सब वस्तुएँ उक्ति-कौशल की सहायक हैं— परन्तु जो वार्तालाप दिये गये है वे उक्ति-सौष्ठव के असली शिक्षक है। सम्भाषण-शिष्टता यदि किसी को सीखनी है—वक्तृत्व के मनोविज्ञान का यदि किसी को पण्डित होना है—तो उसे चाहिए कि वह मानस के वार्तालापों का मनन करे। हम यहाँ इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप कुछ वार्तालापों की संक्षिप्त चर्चा मात्र कर देना चाहते है।

सबसे पहले उमा और सप्तर्षियों का वार्तालाप ही ले लीजिए। ऋषियों के प्रश्न पर पार्वती जी कहती हैं—

कहत मरमु मन अति सकुचाई, हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई।
मनु हठि परा न सुनइ सिखावा, चहत बारि पर भीति उठावा।

नारद कहा सत्य सोइ जाना, बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना।
देखहु मुनि अविवेक हमारा, चाहिअ सदासिवहिं भरतारा।

सप्तर्षियों का बड़प्पन रखते हुए और अपनी नम्रता तथा शालीनता का निर्वाह करते हुए किस उत्तमता से ये वाक्य कहे गये हैं कि विपक्षी की बहस का हौसला एक बार तो ढीला पड़ ही जाय। विपक्षी के दृष्टिकोण को मान देते हुए अपना दृष्टिकोण नम्रतापूर्वक प्रस्तुत कर देना ही सबसे बड़ा वाक्-कौशल है। फिर भी जब सप्तर्षियों ने बहस का क्रम चलाना ही चाहा तब पार्वती जी ने उनके तर्कों का उत्तर देते हुए किस खूबी के साथ आगे की बहस बन्द कर दी यह देखते ही बनता है।

मैं पा परउँ कहइ जगदम्बा, तुम्ह गृह गवनहु भयउ विलम्बा।

फिर जरा एकतनु नामक कपटी मुनि की धूर्तता भरी बातें देखिए। प्रतापभानु को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह किस प्रकार अपने मन की बात उनके मुख से कहलवा ले रहा है। मानो वह स्वगत कथन करता हुआ अपने मन का नकली ऊहापोह इन शब्दों में व्यक्त कर रहा है :

सुनु नृप विविध जतन जग माँही, कष्ट साध्य पुनि होंहि कि नाहीं।
अहइ एक अति सुगम उपाई, तहाँ परन्तु एक कठिनाई।
मम आधीन जुगुति नृप सोई, मोर जाब तव नगर न होई।
आजु लगे अरु जब तें भयऊँ, काहू के गृह ग्राम न गयऊँ।
जौ न जाउँ तब होइ अकाजू, बना आइ असमंजस आजू।

कपटी मुनि तो राजा के यहाँ जाना ही चाहता था परन्तु प्रस्ताव उसने राजा के मुख से कराया और वह भी इस ढंग पर कि मानो उस प्रस्ताव की स्वीकृति से उन पर उसका बड़ा अहसान होगा।

मन्थरा और कैकेई का संवाद भी इस सम्बन्ध में बड़ा दर्शनीय है। मैं विपक्ष के ही हित की बात कह रहा हूँ और उसमें मेरा रत्ती भर स्वार्थ नहीं है, उलटे मुझे उसमें व्यक्तिगत अड़चन ही होगी, यह विपक्षी के मन में जमा देना अपने स्वार्थ-साधन का बड़ा चतुर ढंग है।

कोई भारी भरकम पुरस्कार माँगने का तरीका मनु की बातों में देखिए। कैसी सुन्दर भूमिका बाँधी है उन्होंने। कहते हैं—

एक लालसा बड़ि उर माँहीं, सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।
तुमहिं देत अति सुगम गुसाईं, अगम लागि मोहिं निज कृपनाई।

देने वाला आप ही प्रसन्न होकर कह उठेगा, "माँगो माँगो, कितना बड़ा वर माँगना चाहते हो।"

जनक के पूछने पर विश्वामित्र ने जब राम का आध्यात्मिक परिचय देना प्रारम्भ किया—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" तब राम ने मुसकुरा दिया—

"मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।" उनकी इस एक मुस्कुराहट ने विश्वामित्र को प्रकृतिस्थ कर दिया और वे कह उठे "रघुकुल मनि दसरथ के जाये, मम हित लागि नरेश पठाये।" मुस्कुराहट का एक कृत्य विश्वामित्र की बहक दूर करने में सौ वाक्यों का काम कर गया।

वार्तालाप के ढंग का और प्रसंग देखिए—

लषन हृदय लालसा विशेखी, जाइ जनकपुर आइय देखी।
प्रभु भय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं, प्रकट न कहहिं मनहिं मुसकाहीं।
राम अनुज मन की गति जानी, भगतबछलता हिय हुलसानी।
परम विनीत सकुचि मुसुकाई, बोले गुरु अनुसासन पाई।
नाथ लषन पुर देखन चहहीं, प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर आयसु मैं पावउँ, नगर देखाइ तुरत लेइ आवउँ।

कौन हृदयहीन होगा जो इतने पर भी आदेश न दे। देखना तो लक्ष्मण ही चाहते थे। परन्तु राम ने किस कौशल के साथ अपने को भी नत्थी कर लिया। अपने लिए कहना भी न पड़ा और आदेश अनायास मिल गया।

वचन-चातुरी का बढ़िया प्रसंग है परशुराम संवाद वाला। विपक्षी तक ने इसके लिए "जयति वचन रचना अति नागर" कहकर भरपूर दाद दी है। अपने बल-पौरुष के अहं की जो ग्रन्थि परशुराम के मन में अनुचित सीमा तक बढ़कर बँध गयी थी उसे उकसा-उकसाकर शिथिल कर देना लक्ष्मण और राम के समान ही कुशल वक्ताओं का काम था। यह गलत है कि लक्ष्मण ने वे सब बातें क्रुद्ध होकर कही थीं। वे तो उस समय क्षमामन्दिर हो रहे थे—"छिमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता।" वह पूरा प्रसंग वाक्-कौशल का अनूठा नमूना है।

अयोध्याकांड में तो व्यास-शैली के उत्तमोत्तम संवादों की भरमार है। जहाँ मतलब की बात कह देने भर की आवश्यकता है जहाँ वार्तालाप में समास-शैली का प्रयोग होता है। वहाँ संक्षिप्तता ही बरती जाती है। जहाँ उस बात को गले उतार देने की आवश्यकता है वहाँ व्यास-शैली का प्रयोग होता है। उस बात के पोषण में उत्तमोत्तम तर्क बढ़ा-चढ़ाकर दिये जाते हैं। कैकेई-मन्थरा संवाद, कैकेई-दशरथ संवाद, राम-कौशल्या संवाद, राम-सीता संवाद, राम-लक्ष्मण संवाद, सभी अपनी छटा में अपूर्व हैं। भरत का विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न लोगों से संवाद तो व्यास व समास दोनों ही शैलियों का अनूठा नमूना है। वाक्-कौशल के लिए बातों की ऊपरी बनावट ही काम नहीं देती। उसके लिए अनुकूल मनःस्थिति का होना प्रथम आवश्यक बात है। इस मनःस्थिति में बुद्धि और भावना दोनों का सहयोग चाहिए। बुद्धि का सहयोग है तो बात पते की होगी—सत्य को स्वीकार करती हुई चलेगी। भावना का सहयोग होगा तो बात अनुद्वेगकर होगी—प्रिय को स्वीकार करती हुई चलेगी।

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ।" मनःस्थिति की जितनी गहराई से बात निकलेगी वह उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी और आप ही आप उतनी ही कलात्मक बन जायगी । अयोध्याकांड के अनेक संवादों में यही कला छिटकी हुई मिलेगी ।

कोई भी बात कही जाय तो पहले यह देख लिया जाय कि उसका प्रभाव क्या पड़ेगा । उस प्रभाव का विचार रखकर परिस्थिति को पहले अनुकूल बनाना पड़ता है तब बात कही जाती है । दशरथ-मरण का संवाद राम को सुनाना था । इस दुःखद समाचार को सह सकने की अनुकूल परिस्थिति बनाकर ही वशिष्ठ ने यह बात कही थी । "कहि जगगति मायिक मुनिनाथा, कहे कछुक परमारथ गाथा । नृपकर सुरपुर गमन सुनावा ।"

सुमित्रा के वाक्-कौशल का एक नमूना देखिए । चित्रकूट-प्रसंग में सुनयना ने विधि-बुद्धि की आलोचना करते करते "जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल" तक कह डाला । काक उलूक बक की श्रेणी में स्वभावतः ही कैकेई का नम्बर आ सकता था, अतएव आलोचक अब इस दिशा में आगे न बढ़े इसलिए झट सुमित्रा ने मूल बात की ओर बातों का रुख मोड़ दिया । "सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा, विधिगति बड़ि विपरीत विचित्रा ।" बात बदल गयी । बातें फिर जब बहुत लम्बायमान होने लगीं तो सुमित्रा ने कालमान की ओर संकेत कर दिया । "देवि दण्डजुग जामिनि बीती ।" बस, बातें वहीं समाप्त हो गयीं । बातों का रुख घुमा देना भी एक बड़ा वाक्-कौशल है । सबसे बड़ा वाक्पटु प्रायः वह माना गया है जो सामने वाले को बोलने का अधिक से अधिक अवसर देता है परन्तु साथ ही यह देखता रहता है कि बातें उसकी भावना के अनुकूल ही विकसित हो रही है और वे किसी प्रकार मर्यादा से बाहर नहीं जा रही हैं ।

किसी को शिष्टता के साथ विदा करना हो तो राम की इस वाणी पर ध्यान दिया जाय जो उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कही । विदा का एक शब्द भी नहीं है इसमें :

सहित समाज राउ मिथिलेसू, बहुत दिवस भये सहत कलेसू ।
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा, हित सबही कर रउरे हाथा ।
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ, मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ।

सेवा अथवा सहायता की खूबी इसी में है कि वह अहसान जताकर न की जाय । वाक्-कौशल का अभाव यहीं गुड़ को गोबर और उसका सद्भाव गोबर को गुड़ बना सकता है । सुतीक्ष्ण का वाक्-कौशल देखिए कि वे किस तरह राम के पथ-प्रदर्शक बनकर अगत्स्य के आश्रम तक गये हैं और राम इनकार तक न कर सके । मुनि कहते हैं :

बहुत दिवस गुरु दरस न पाये, भये मोहिं एहि आश्रमु आये ।
अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं, तुम्ह कहुँ नाथ निहोरा नाहीं ।

कितना सुन्दर तरीका है सेवा का। समझदार स्वामी के मन में ऐसी सेवा का जो असर हो सकता है वह घोषित की हुई सेवा से अनेक गुना बढ़कर है।

एक और प्रसंग देखिए। समुद्र-तट पर कालरूप सम्पाती सामने आ खड़ा हुआ। बानर घबरा उठे। क्या किया जाय, कैसे बचा जाय। उस समय अंगद का वाक्-कौशल काम आया। उन्होंने सोचा सम्पाती गृद्ध है अतएव इसके किसी ऐसे सजातीय की चर्चा छेड़ दी जाय जो हम लोगों का सहायक रह चुका है।

कह अंगद विचारि मन माँहीं, धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।
राम-काज कारन तनु त्यागी, हरिपुर गयेउ परम बड़भागी।

तीर एकदम निशाने पर लगा और सबके प्राण ही न बचे, किन्तु सबका उपकार भी हो गया। उसी के आगे जाम्बवन्त का वाक्-कौशल देखिए। हनुमान कनकभूधराकार होकर पूछ रहे हैं, "क्या मैं रावण को मारकर त्रिकूट उखाड़ लाऊँ ?" जाम्बवन्त तड़ाक से यह नहीं कह उठते कि यह तो राम ही के बलबूते की बात होगी। वे कहते हैं, "भाई, तुम केवल इतना ही करो कि सीता को देख आओ। फिर तो राम जी अपनी लीला का विस्तार कर लेंगे।" हनुमान को समुचित उपदेश भी मिल गया परन्तु इस खूबी से कि उनके बल-पौरुष की कोई प्रत्यक्ष आलोचना होने ही नहीं पाई।

सुरसा और हनुमान के संवाद में और रावण तथा सीता के संवाद में जिस समास शैली का तथा रावण और हनुमान के संवाद में एवं हनुमान द्वारा कथित विरह-निवेदन में जिस व्यास शैली का प्रयोग हुआ है वह देखते ही बनता है। और फिर, सीता की विपत्ति कहते-कहते जब उन्होने देखा कि राम का रुख कुछ दूसरा हो गया है तब किस खूबी से बात पलट दी हनुमान जी ने—

सीता कै अति विपति विशाला, बिनहिं कहे भलि दीन दयाला।
सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना, भरि आये जल राजिव नयना।
वचन काय मन मम गति जाही, सपनेहु बूझिय विपति कि ताही।
कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई, जब तव सुमिरन भजनु न होई।
केतिक बात प्रभु जातुधान की, रिपुहिं जीति आनिबी जानकी।

राम ने आगे चलकर बड़े प्रेम से पूछा कि हे कपि ! तुमने रावणपालित अतिबंक लंका दुर्ग का किस प्रकार दहन किया ? हनुमान के लिए उत्तर देना अनिवार्य हो गया परन्तु उस उत्तर को अति संक्षिप्त ढंग से पूर्वापर क्रम भंग करते हुए जिस शिष्टता और नम्रता से हनुमान जी ने दिया है उससे उनकी शालीनता बरसी पड़ रही है। यह है सेव्य के समक्ष सेवक का अनुकरणीय व्यवहार। यह है उक्ति-सौष्ठव, जो उच्च मनःस्थिति के कारण अनायास बन पड़ता है परन्तु जिसमें सूक्ति-कौशल आप ही आप निखर उठता है। जो अच्छाइयाँ बन पड़ी हों उन्हें प्रभु का प्रसाद मानना और जो बुराइयाँ हों

उनके लिए एकमात्र अपने को ही दोषी मानकर चलना जीवन का बड़ा सुनहला नियम है। यह नियम उक्ति में सौष्ठव तथा शालीनता आप ही ले आता है।

सामने वाले की उक्ति की अच्छाई और मान्यता को स्पष्ट शब्दों में मान देकर यदि अपनी बात आगे बढ़ाई जाय तो प्रतिपक्षी (सामने वाले) का कुछ आत्मतोष हो जाने के कारण वह इस स्थिति में आ जाता है कि आगे की बातों को शुद्ध हृदय से ग्रहण कर ले। विभीषण के विषय में जब राम ने सुग्रीव से सलाह ली अथवा समुद्र के विषय में जब उन्होंने विभीषण की सलाह सुनी अथवा इसके पूर्व चित्रकूट में भरत के विषय में जब लक्ष्मण ने राजमद की बात कही, उन प्रसंगों में राम की उक्तियों पर ध्यान दीजिए—"सखा नीति तुम नीकि विचारी," "सखा कही तुम नीकि उपाई, सबतें कठिन राजमद भाई" आदि। प्रतिपक्षी की सहृदयता उकसाकर उसे मौन बना देने का कितना सुन्दर ढंग है यह।

जब कोई ऐसी बहस पर उतारू हो जाय जो विषयान्तर को ले जाने वाली हो तो सामने वाले को सन्तोष देकर अपने विषय पर आ जाना भी राम का अनूठा वाक्-कौशल था जो उन्होंने केवट के प्रसंग में दिखाया। कौन उससे माथापच्ची करे। कह दिया "सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।"

कभी-कभी ऐसी ऊटपटांग बातें भी की जाती हैं जिनसे अनायास ही सामने वाले के मन की थाह मिल जाय। सुवेल शैल पर राम ने चन्द्रमा के कलंक की बात अपने साथियों से पूछी। सुग्रीव ने कहा शशि में भूमि की झाँई प्रकट हुई है, विभीषण ने कहा कि राहु का मुक्का पड़ा इसलिए चन्द्रमा की छाती पर काला दाग हो गया है, अंगद ने कहा विधाता ने चन्द्रमा में एक छेद कर दिया क्योंकि उसे रतिमुख-निर्माण हेतु उसका सारभाग चाहिए था, हनुमान ने कहा यह तो प्रभु की श्याम मूर्ति ही शशि के उर में बसी है। किसके मन में कौन विचारधारा कार्य कर रही है इसका अनायास ही उन्हें पता लग गया और युद्ध में नियुक्ति करने के पहले यह पता लगा लेना कितना आवश्यक था! ठेठ प्रश्न पर मनोभावों का क्या ऐसा स्पष्ट उत्तर मिल सकता था?

लंका-विजय के बाद विभीषण राम से कहता है, "प्रभो नगर में पदार्पण कीजिए!" तब राम उसकी भावना को पूर्ण मान्यता देते हुए किस प्रकार अपना अभीष्ट प्रकट कर देते हैं—

तोर कोष गृह मोर सब, सत्य वचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात।

इसके पूर्व धर्मरथ के प्रकरण में जब विभीषण ने रथ के अभाव में विजय के प्रति चिन्ता व्यक्त की थी तब भी राम ने उसकी भावना का सम्मान करते

हुए नये प्रकार के रथ की चर्चा चलाकर किस प्रकार उसे निरुत्तर कर दिया था। यह है वचन-विदग्धता, यह है उक्ति-सौष्ठव।

अब एक उक्ति और सुन लीजिए। शंकर की बरात जा रही थी। विष्णु को मजाक सूझा। कहते हैं, "विलग विलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज। बर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करइहउ पर पुर जाई?" उद्देश्य तो था कि पर पुर जाकर खूब हँसी कराई जाय। परन्तु कहते हैं कि क्या पर पुर जाकर अपनी हँसी कराओगे? स्वीकारात्मक बात को नकारात्मक ढंग से कहने का यह व्यंग्यपूर्ण कौशल हास्यरस को अनूठे अमृत से सिक्त कर देता है और उसकी स्वादीयता में अनेक गुना अधिक वृद्धि कर देता है।

वार्तालापों के अतिरिक्त स्वतः गोस्वामी जी के उक्ति-सौन्दर्य को देखा जाय तो उस ओर भी कमाल ही मिलेगा। वे कहते हैं न, कि काव्य वह है जिसे सुनकर विपक्षी भी "वाह वाह" कह उठें। देखिए नमूना—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पै कहइ न जाना।
निज परिताप दहइ नवनीता, पर हित द्रवहि सन्त सुपुनीता।

इससे भी बढ़कर देखिए वह दोहा जो उन्होंने मथुरावासियों के *व्यंग्य पर कहा था, यह सुनकर कि मथुरा में राम राम नहीं कृष्ण कृष्ण कहा जाय*— "मथुरा में भी राम हैं, नहीं कहै जो कोय। पाछिल आगिल छाँड़ि कै वाके मुँह में सोय।" कितना तीखा उत्तर है परन्तु कितने उक्ति-कौशल से भरा हुआ। "वरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू" में जहँ तहँ पर विचार कीजिए, "नव तुलसिकावृन्द" में नव शब्द पर विचार कीजिए, "पुनि आउब इहि बिरियाँ काली" के काकु और व्यंग्य पर ध्यान दीजिए, "जेहि अघ बधेउ व्याध इव बाली, पुनि सुकंठ सोई कीन्ह कुचाली" में अर्थ-कौशल पर ध्यान दीजिए, "नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम" में उपमाओं का भाव-गांभीर्य देखिए और "सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छविगृह दीपसिखा जनु बरई" आदि अनेकानेक प्रसंगों में सौन्दर्यबोध का ढंग देखिए। सभी उदाहरण एक से एक अपूर्व मिलेंगे।

४

मानस के महान् व्याख्याकार
डा. बलदेव प्रसाद मिश्र

शील के महासागर का मंथन करके यदि कोई रत्न निकाला जाय तो उसकी सुषमा, निर्मलता, मनोहारिता और दीप्ति बहुत कुछ वैसी ही होगी, जैसी आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व में है। वे विग्रहवान् सज्जनता हैं, आर्जव, आडम्बरहीनता, सौम्यता, मधुरातिमधुर व्यवहारकुशलता और परम प्रभविष्णु वाग्मिता उनके पवित्र चारित्र्य के नित्य गुण-धर्म हैं। उन्होंने समाज-साधना, धर्म-साधना और साहित्य-साधना को अपने जीवन में एकाकार कर दिया है। इन सभी क्षेत्रों में उनकी सेवाओं का क्रम निष्काम भाव से निरन्तर चलता रहा है। स्वभाव से ही आडम्बरविमुख और विज्ञापनपराङ्मुख होने के कारण उनकी सेवाओं का न तो सम्यक् मूल्यांकन हुआ है, न प्रशस्ति-पाठ और न उचित प्रचार। फिर भी साहित्य के क्षेत्र में उनका परिदान इतना विपुल और महान् है कि प्रचार के अभाव में भी उसकी उपेक्षा संभव नहीं हो सकी और वे आज हिन्दी के शीर्ष-स्थानीय विद्वानों और विचारकों में परिगणित हो रहे हैं। इतना होते हुए भी उनके साहित्यिक कृतित्व के सभी पक्षों का यथार्थ इष्टत्व-बोध अभी तक हमारे समाज में नहीं है। उन्होंने संपादक, दार्शनिक, नाटककार, कवि, सांस्कृतिक विचारक, समीक्षक और रामचरितमानस के प्रकाण्ड पंडित के रूप में हिन्दी के भंडार को भरा है। उनके ये सभी रूप साहित्य के इतिहास में स्थायी महत्त्व के अधिकारी हैं।

साहित्यकार के रूप में सभी क्षेत्रों में उनकी भूमिका बहुत उदात्त है। काव्य में तो उन्होंने 'उदात्त' नामक एक रस की ही उद्भावना की है। उनकी नवीनतम काव्य-कृतियाँ उनकी इस उद्भावना को प्रमाणित करती है। आज जब हमारा काव्य नयेपन की होड़ में औदात्य का नितान्त बहिष्कार कर चुका है, मिश्रजी की ये कविताएँ जीवन का अत्यन्त गुरु-गम्भीर रसात्मक बोध प्रस्तुत करती हैं। मुझे विश्वास है कि उनका यह काव्य हमारे भावी सांस्कृतिक नव्योत्थान की भूमिका बनने की क्षमता से सम्पन्न है। उनका सांस्कृतिक और दार्शनिक चिंतन बड़ा प्रौढ़ है, और वह इस देश के परम्परागत चिंतन का युगानुकूल विकसित रूप है। संस्कृति और दर्शन के उनके व्यापक

अध्ययन और ज्ञान ने उनके द्वारा प्रयुक्त सभी साहित्यिक विधाओं को ऊर्जित बनाया है। रामचरितमानस के व्याख्याकार के रूप में उन्होंने अपने इस तत्त्वज्ञान का बड़ा विशद् उपयोग और नियोजन किया है।

रामचरितमानस भारतीय संस्कृति का सारभूत ग्रन्थ है; वह भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग की त्रिवेणी है। उसमें निगम, आगम और पुराण की परम्परा की पूर्ण रसात्मक निष्पत्ति हुई है। अतएव, मानस का व्याख्याकार वही हो सकता है जो इन सबका गहन अध्येता और विशेषज्ञ हो। आचार्य मिश्रजी ने जीवनव्यापी परम सात्विक साधना द्वारा मानस के दिव्यदृष्टि-सम्पन्न व्याख्याता होने की पात्रता अर्जित की है। इसलिए इस क्षेत्र में उनका योगदान परम्परा की दृष्टि से महान् और समसामयिकों के बीच अनेक दृष्टियों से अद्वितीय है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने लिखा है कि "मानस का अध्ययन-मनन प्रणेता के जीवन-काल में ही विस्तृत क्षेत्र में फैल गया था। इसका मुख्य कारण यह था कि स्वयं कर्ता ने इसके प्रचार-प्रसार के लिए दो प्रकार के सुदृढ़ साधन निकाले। एक मानस की कथा का श्रवण सत्संग के रूप में। भारतीय साहित्य की परम्परा में वाल्मीकि और व्यास दो प्राचीन विशिष्ट साहित्य-स्रष्टा हुए। तुलसीदास ने "व्यास आदि कविपुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।" कहते हुए व्यास का उल्लेख वाल्मीकि से भी पहले वंदना के प्रसंग में किया है। व्यास-प्रणीत और शुकमुखोद्गीरित श्रीमद्भागवत के द्वारा होने वाले हरिचरित श्रवण की जो परम्परा व्यासों द्वारा चली उसके अनुगमन पर उन्होंने मानसकथा के श्रवण का आरम्भ, हो सकता है, पहले किया हो और मानस के आधार पर होने वाली रामलीला का प्रवर्तन तदनन्तर।" आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने यह भी लिखा है कि मानस के प्रथम व्यास गोस्वामी तुलसीदास जी स्वयं ही थे, और दूसरे व्यास थे उनके प्रिय शिष्य रामू द्विवेदी जिन्होंने संस्कृत में मानस की 'प्रेम रामायण' नामक टीका की है। 'मानस पीयूष' के कर्ता श्री अंजनीनन्दन शरण जी ने लिखा है कि मानस के प्रथम व्यास संडीले के स्वामी नन्दलाल जी और दूसरे व्यास मिथिला के स्वामी रूपारुण जी थे। उन्होंने 'मूल गोसाईं चरित के रचयिता' बाबा वेनी माधवदास को मानस का पाँचवाँ व्यास बतलाया है।

गोस्वामी जी से मानस-व्यासों की जो परम्परा चली उसके स्वरूप का कुछ अनुमान 'प्रेम रामायण' से किया जा सकता है। यह ग्रन्थ अभी प्रकाश में नहीं आया है, पर इसका कुछ परिचय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने प्रकाशित करवाया है। उन्होंने बताया है कि इसमें छंदों का अनुसरण तथा

शब्दों के भावों का अनुगमन प्रायः ज्यों का त्यों है। इस अनुवाद में 'मानस' के शब्दों और अर्थों की परम्परा का अध्ययन-मनन करने में सहायता मिलने की पूरी सम्भावना है। इससे सिद्ध है कि मानस के इन आरम्भिक व्यासों ने मानस की साहित्यिक विशिष्टता के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया था। किन्तु आगे चलकर उस परम्परा की यह साहित्यिक प्रकृति कम होती गयी और उसमें चमत्कारप्रियता बढ़ती गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि मानस के व्याख्याताओं की दो पृथक् परम्पराएँ चल पड़ीं, जिनमें एक शुद्ध साहित्यिक थी और दूसरी व्यासों की जो मानस के एक से बढ़कर एक चमत्कारी अर्थ किया करते हैं। इन व्यासों की एक विशेषता यह भी है कि वे मानस के कथानक की गूढ़ ग्रन्थियों को पुराणादि के आधार पर बड़े चमत्कारी ढंग से खोलने का प्रयत्न करते हैं। विद्वान् व्यास शास्त्र के आधार पर यह चमत्कार-सृष्टि करते हैं, पर जिन व्यासों का शास्त्रीय अध्ययन अपेक्षाकृत कम प्रौढ़ होता है वे चमत्कार सृष्टि के लिए कल्पना-प्रसूत उद्‌भावनाओं का अधिकाधिक उपयोग करते हैं जो प्रायः निरंकुश भी प्रतीत होने लगता है। फिर भी मानस की व्याख्या की यह व्यास-परम्परा जनता में अब भी बहुत लोकप्रिय है और उसमें कुछ संग्राह्य तत्त्व भी हैं। विशेषतः वे व्यास, जो मानस के आधारभूत उपासना-तत्त्व के ज्ञाता हैं, कभी-कभी बड़े गम्भीर रहस्यों का मर्म खोल देते हैं। इसके विपरीत मानस की व्याख्या की साहित्यिक परम्परा विद्वानों के बीच प्रवर्तित और विकसित होती हुई शोध-अध्ययन के रूप में परिणत हुई और उन्हीं के बीच सीमित भी रह गयी। इस परम्परा पर ग्रियर्सन जैसे विद्वानों का भी गहरा प्रभाव पड़ा। ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वानों ने गोस्वामी जी की प्रसिद्धि को देश की सीमाओं के बाहर अवश्य पहुँचाया, जिसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए, किन्तु उन्होंने आधुनिक भारत के नये अध्येताओं और व्याख्याताओं के मन में कुछ ऐसे पूर्वाग्रह भी उत्पन्न कर दिये जिसके परिणामस्वरूप गोस्वामी जी को ब्राह्मणों का पक्षपाती और स्त्रियों का विरोधी कहा जाने लगा।

आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र ने मानस के व्याख्याकार के रूप में अपनी सभी एतद्विषयक पूर्ववर्ती परम्पराओं का उपयोग, परिष्कार और संस्कार किया है। आचार्य मिश्रजी ने 'मानस माधुरी' की भूमिका में स्वयं लिखा है कि इसमें "प्रवचनकारों की भिन्न-भिन्न शैलियों का भी कहीं-कहीं अवलम्ब ले लिया गया है।" उक्ति-सौष्ठव या युक्ति-सौष्ठव, तुलनात्मक पद्धति या समीक्षात्मक पद्धति, व्यास शैली या समास शैली सबका सम्यक् समाहार उनकी मानस की व्याख्याओं में है। मानस-व्यासों की परम्परा के सब संग्राह्य तत्त्व उन्होंने आत्मसात् कर लिये हैं। मानस के तत्त्वज्ञान के उनके विवेचन में जो

सहज सौष्ठव मिलता है उसके द्वारा वे उसे जन-जन के मानस में बड़ी सुगमता से उतार देते हैं। यह विशेषता उनको मानस-व्यासों की परम्परा के सहृदयपूर्ण अनुशीलन से ही प्राप्त हुई है। उनके मानस-विषयक प्रवचन और निबन्ध सम्मान्य राष्ट्रपति भवन और विश्वविद्यालयों की शोध-सभाओं से लगाकर सामान्य वन्यकुटी तक समान श्रद्धा और भक्ति से सुने और पढ़े जाते हैं। मानस के इस युग के किसी भी व्याख्याकार को यह सफलता और लोकप्रियता नहीं मिली है।

मानस के अध्ययन की साहित्यिक परम्परा का भी उन्होंने उन्नयन किया है। उन्होंने मानस के प्रबन्ध-सौष्ठव, काव्य-सौष्ठव, सूक्ति-सौष्ठव, संभाषण-सौष्ठव आदि का बड़ा विशद निर्वचन किया है। अब तक के तुलसी-विषयक स्वीकृत शोध-प्रबंधों में न तो गोस्वामी जी के साहित्यिक सौंदर्य की ऐसी मार्मिक विवेचना मिलती है और न उनके तत्त्वज्ञान का ऐसा गम्भीर एवं प्रामाणिक विश्लेषण। मिश्रजी में एक रसज्ञ आलोचक की प्रसन्न अन्तर्दृष्टि और शास्त्रज्ञ शोधकर्ता की तत्त्वदर्शिता सहज सुलभ है। उनके 'तुलसी दर्शन' और 'मानस माधुरी' इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। "भारतीय संस्कृति को गोस्वामी जी की देन" का मूल्यांकन करने वाले उनके शोधपूर्ण प्रवचन तो सभी दृष्टियों से अद्वितीय हैं। मानस के विदेशी अध्येताओं और भारतीय शिष्यों ने गोस्वामी जी के अध्ययन में जो मानसिक बाधाएँ खड़ी कर दी हैं, उनके निरसन की क्षमता भी मिश्रजी की व्याख्याओं में है। इसके प्रमाण-स्वरूप उनके 'गोस्वामी जी और नारी', 'बालि-वध' आदि निबंध प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उन्होंने गोस्वामी जी के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का बड़ा गम्भीर विवेचन करते हुए सिद्ध किया है कि उनका नारी-वर्णन श्रुतिपरम्परा के अनुरूप और 'विरति-संयुत' तो है ही, वह विवेक-सम्मत भी है। बालि-वध विषयक शंकाओं का भी उन्होंने राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर समाधान किया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मानस की व्याख्या की सभी परम्पराओं का संस्कार उनके द्वारा हुआ है।

उन्होंने लिखा है—"गोस्वामी जी का मानस सार्वभौम एवं सार्वकालिक ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक संकीर्णता उससे कोसों दूर है। व्यावहारिक कल्याण मार्ग उसमें पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। भारत की राष्ट्रीय चेतना को बल देकर दिव्य मानवता जगाने की जितनी शक्ति उसमें है उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में हो।" मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि मिश्रजी की मानस की व्याख्याओं में भी उनके आदर्श ग्रन्थ 'मानस' के ये सब गुण मिलते हैं। वे भी सार्वभौम और सार्वकालिक हैं, उनमें किसी प्रकार का साम्प्रदायिक आग्रह या संकीर्णता नहीं। गोस्वामी जी के द्वारा निरूपित व्यावहारिक कल्याण मार्ग

की उन्होंने तदनुरूप सर्वजनग्राह्य व्याख्या की है। उनकी व्याख्याएँ भारत की राष्ट्रीय चेतना को बल देकर जन-मानस में सोये हुए देवता को जगाने की प्रेरणा-शक्ति से सम्पन्न हैं। इसीलिए हमारे भूतपूर्व महामानव राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि मिश्रजी ने 'मानस' पर लिखकर हिन्दी की ही नहीं मानवता की सेवा की है। उनकी इन विस्तृत व्याख्याओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें कहीं भी किसी ऐसी बात का समावेश नहीं होने पाता जिसे गोस्वामी जी की रुचि, प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुरूप न कहा जा सके। इस बात के लिए मिश्रजी बराबर प्रयत्नशील रहे हैं कि कहीं गोस्वामी जी के बदले प्रवचनकार ही श्रोताओं या पाठकों के मन पर न छा जाय।

उनके इस ऐतिहासिक महत्त्व के कृतित्व के मूल में उनकी व्यक्तिगत साधना है। इस साधना के स्वरूप को सबसे सुगम शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन को गोस्वामी जी के द्वारा निरूपित आदर्शों के अनुरूप ढाल लिया है। गोस्वामी जी का प्रामाणिक व्याख्याता वही हो सकता है जो उनके सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन में कार्यान्वित करने का उत्साह और साहस रखता हो। आचार्य मिश्रजी ऐसे ही दुर्लभ नररत्न हैं।

—आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बड़ौदा विश्वविद्यालय

५

डाक्टर साहब के अध्यक्षीय भाषणों के कतिपय उद्धरण

(१) मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रायपुर (नवम अधिवेशन) सन् १९४१—स्वागताध्यक्षीय भाषण

जिस सी० पी० में सागर ही नहीं वरन् महासमुद्र तक समाया हुआ है उसमें मोतियों की कमी हो यह तो माना नहीं जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि वे मोती प्रकाश में लाये जायँ और उनकी ऐसी सुदृढ़ माला तैयार की जाय जो भारत के बड़े-बड़े जौहरियों के नेत्रों को भी चमत्कृत कर दे।

(२) मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सागर (दसवाँ अधिवेशन) सन् १९४४—अध्यक्षीय भाषण

मध्यप्रान्त भारत का हृदय है और इसी हृदय में न केवल हिन्दी और मराठी का मेल हुआ है पर उत्तरी-दक्षिणी और आर्य-अनार्य संस्कृतियों का भी खासा संगम हुआ है। यहाँ बोली जाने वाली हिन्दी पर मुसलिम प्रभाव भी बहुत कम पड़ा है।

× × ×

प्रकाशक, पत्रकार, प्रवचनकार, रेडियो स्टेशन, सिनेमा निर्माता आदि को मैं सृजन और खपत के बीच का बिचवानी मानता हूँ।

× × ×

साहित्य रचना एक बहुत बड़ी साधना है। वह ब्रह्म साधना का ही एक रूप है क्योंकि साहित्य वस्तुतः ब्रह्म का शब्दमय रूप ही है। विद्या के और जितने अंग हैं वे मानव के उपयोग की वस्तुओं अथवा मानव के विविध अंगों पर ही प्रकाश डालते हैं। साहित्य ही एक ऐसा अंग है, जो समूचे मानव पर प्रकाश डालकर उसे हमारे अध्ययन की वस्तु बनाता है और वह भी इस खूबी

से कि हमें अध्ययन के कष्ट का तो अनुभव तक नहीं होने पाता, प्रत्युत् लोकोत्तर आनन्द की इस धारा का मिलना आरम्भ ही से प्रारम्भ हो जाता है।

× × ×

जिसने अपने अतीत साहित्य में गहरी डुबकी नहीं लगाई है, जिसने वर्तमान साहित्य की विभिन्न धाराओं का रसास्वादन नहीं किया है; जो भाषा तथा काव्य के नियमों से नितान्त अनभिज्ञ है, जो किसी भी श्रेष्ठ साहित्यिक के प्रेरणाप्रद सत्संग के प्रति उदासीन रहा है, जिसमें अनवरत परिश्रम की क्षमता अथवा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का अभाव है तथा जिसमें चरित्र-बल की कमी है, उसे साहित्य-सृजन के दायित्वपूर्ण कार्य से दूर ही रहना चाहिए।

× × ×

"कला के लिए कला" के पक्षपाती भावुकता के आगे चरित्रबल की कोई कीमत ही नहीं आँकते। परन्तु यदि "सत्यं शिवं सुन्दरम्" एक अखण्ड सत्ता है तो यह निश्चित है कि "शिवं" को नीचे गिराकर "सुन्दरम्" कभी पनप नहीं सकता।

(३) छत्तीसगढ़ प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रत्नपुर (तृतीय अधिवेशन) सन् १९४४—अध्यक्षीय भाषण

जो निर्जीव वस्तुओं के मौन आख्यान सुन और सुना सकता है, जिसकी हृत्तंत्री के तारों को न केवल गगनविहारी तारों के तरल प्रकाश अथवा वन-विहारी द्रुमलता पुंजों के मर्मर संगीत ही मुखरित कर देते हैं वरन् यत्रतत्र पड़े हुए प्रस्तर खण्ड भी—वे प्रस्तर खण्ड जिनमें मानवीय संस्कृति के मापक यन्त्र की तरह कला का कोई कौशल छिपा पड़ा है—एक भैरव या विहाग सुनाने के लिए बाध्य कर देते हैं, वही तो सफल साहित्यिक है।

× × ×

क्या यह हमारे साहित्यकारों को शोभा देता है कि वे अपनी ही परिस्थिति से तो नितान्त अनभिज्ञ रहें और अवास्तविकता के कवि सम्प्रदाय निर्मित काले चश्मे से अपने ज्ञान-चक्षुओं को ढाँककर विकृत साहित्य रचने ही में अपना गौरव समझें? ऐसे प्रज्ञाचक्षुओं की रचना से माता सरस्वती के मन्दिर का शृंगार नहीं बढ़ता। हाँ, भार अवश्य बढ़ता है।

× × ×

आप लोगों से मेरा नम्र निवेदन है कि आप लोग लिखने की अपेक्षा पढ़ने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ाएँ। साक्षरता का अधिक से अधिक प्रचार हो यह तो आवश्यक है ही परन्तु केवल इतने ही से काम न चलेगा। आप में आजीवन कुछ न कुछ पढ़ते रहने की अभिरुचि होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के पास सामर्थ्यानुसार कुछ न कुछ पुस्तकें रहनी ही चाहिए। और नहीं तो रामायण तथा गीता अवश्य ही हो। भारतीय वाङ्मय में चन्द्र और सूर्य की तरह ये दो ग्रन्थरत्न अनवरत देदीप्यमान रहेंगे।

× × ×

यदि आप श्रीसम्पन्न हैं और आपको अपने व्यवसाय से अवकाश नहीं मिलता तो भी आप पुस्तकें अवश्य मँगाइए। उन्हें आपके लड़के, बच्चे अथवा अन्य आश्रित या इष्टमित्र पढ़ेंगे। इस प्रकार आप न केवल इन्हें ही लाभ पहुँचाएँगे वरन् उन ग्रन्थकारों को भी, जिन्होंने आपके लिए अपने हृदय और मस्तिष्क का रक्त गंभीर चिन्ता के शिकंजे से निचोड़कर ग्रन्थों के पन्नों पर बिखरा दिया है। पुस्तक-पाठ के साथ ही साथ पदार्थ-पाठ की ओर भी आप ध्यान रखें। प्रकृति की पाठशाला ही सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है जहां से हमें वास्तविकता और व्यावहारिकता की अलक्षित डिग्रियाँ मिला करती हैं। साहित्य सृजन के कार्य के लिए ऐसी अलक्षित डिग्रियाँ अनिवार्य है।

× × ×

जो व्यक्ति लेखकों की अपेक्षा पाठकों की संख्या अधिक बढ़ा सकता है उसे मैं अधिक मूल्यवान साहित्य सेवी समझता हूँ।

× × ×

मैं नहीं चाहता कि अपने ही प्रान्तों में अपनी हिन्दी केवल राष्ट्रभाषा रूप में रहकर मातृभाषा के पुनीत सिंहासन से हटा दी जाय।

(४) मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर (ग्यारहवाँ अधिवेशन) सन् १९४५—अध्यक्षीय भाषण

कार्यों की प्रगति विचारों पर अवलम्बित है और विचारों की प्रगति भाषा पर। भाषा का निखार साहित्य द्वारा होता है और साहित्य को सुव्यवस्थित करना इस सम्मेलन का काम है। अपना यह काम पूरा करने के लिए सम्मेलन को अनेक उपायों का अवलम्बन लेना है।

× × ×

भाषा के एकीकरण के पहले संस्कृति के एकीकरण की आवश्यकता है।

× × ×

भाषा किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती। उसके शब्द तो तभी प्रचलित होंगे जब सर्वसाधारण उन्हें स्वीकार करें और सर्वसाधारण लोग तभी स्वीकार करेंगे जब वे उनकी संस्कृति के अनुकूल होंगे अथवा उनमें व्यवहार सौंदर्य स्थापित करेंगे।

× × ×

आजकल उपयोगितावाद का जमाना है इसलिए वही लिपि बाजी मार ले जायगी जिसके पढ़ने-लिखने में आसानी हो और जो टाइप तथा टाइपराइटर में पर्याप्त सुविधा प्रदान कर सके।

× × ×

वह कलात्मकता ही कैसी जो शहर की सच्ची झाँकी न दिखाकर गंदी गलियों के चित्र को ही शहर समझ लेने के लिए हमें बाध्य करे। साहित्यिक रचनाएँ समाज के डाक्टरों के लिए नहीं लिखी जाती हैं—वरन् ऐसे लोगों के लिए जिन्हें अपने विकास के मार्ग में बल प्राप्त करना है। उन्हें यदि दुष्ट प्रवृत्तियों के समर्थन के अथवा पारस्परिक विद्वेष के अस्त्र दे दिये जायँ तो इस प्रक्रिया में भगवती भारती की किस प्रकार सन्तुष्टि हो जायगी यह मेरी समझ में नहीं आता।

× × ×

एक मौलिकता दीमक की है जो इधर-उधर के कण चुनकर उन्हें ज्यों के त्यों उगल देती है और इस प्रकार अपना लम्बा-चौड़ा घर बना डालती है। परन्तु वह घर साँपों का निवास स्थल ही होता है। एक मौलिकता मकड़ी की होती है जो सब कुछ अपने पेट से ही निकालती है। परन्तु उसके द्वारा रचा हुआ वह जाला केवल मक्खियाँ फँसाने ही के काम आता है। सुरुचिपूर्ण भवन में तो वह कूड़ा-करकट ही माना जाता है। एक मौलिकता मधुमक्खी की होती है जो सुमन-सुमन से रस लाकर उस रस पर इस प्रकार अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देती है कि उसकी कायापलट ही हो जाती है और फिर वह रस मधु बनकर मनुष्यों की अनेक व्याधियों को दूर करने वाला समझा जाता है। हमें ऐसी ही मौलिकता की आवश्यकता है।

× × ×

कवि सम्मेलनों में वही कविता जमती है जो संक्षिप्त हो, आसानी से समझी जा सके, प्रभावोत्पादक हो, और सुस्वर के साथ कही जाय। अन्तिम

बात तो संगीत का अंग हो जाती है; साहित्य से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। परन्तु जिस रचना में प्रासादिकता नहीं, स्वतः का प्रभाव अथवा आकर्षण नहीं, वह गायन द्वारा जनता में समादृत करा ली जाती है। जिसके पास सुस्वर नहीं अथवा पढ़ने की प्रभावोत्पादक शैली नहीं उसे कवि सम्मेलनों में कविता नहीं पढ़नी चाहिए। फिर भी कविता का प्राण गायन नहीं है। वह है स्वतः की कला और उसका स्वतः का विषय।

(५) अखिल भारतीय प्राच्य महा सम्मेलन (नागपुर विश्वविद्यालय अधिवेशन) सन् १९४६, हिन्दी विभाग—अध्यक्षीय भाषण

मैं तो उस दिन परम प्रसन्न होऊँगा जिस दिन सुनूँगा कि प्राच्य विद्या महासभा के कर्णधारों ने इस हिन्दी ही को अपने विचार-विनिमय का माध्यम बना लिया है और अब इसी भाषा के द्वारा महासभा की समूची कार्यवाहियाँ सम्पन्न हो रही हैं। प्राच्य विद्याओं की चर्चा के लिए प्राच्य लोग अंग्रेजी के समान एक विदेशी भाषा का मुँह ताकें यह बात आत्मसम्मान के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ती है।

× × ×

किसी भी भाषा के प्रत्येक शब्द के पीछे एक सामान्य अर्थ ही नही छिपा रहता, वरन् उस अर्थ के साथ एक परम्परागत सांस्कृतिक भाव-समूह भी लहरें मारा करता है। 'उस्ताद' में वह बात आ ही नहीं सकती जो 'गुरु' में है। 'भगवानदास' और 'अब्दुल करीम' अर्थतः एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न सत्ताएँ रखते हैं। उसी प्रकार अब 'हिन्दी' और 'उर्दू' का हाल हो गया है। दोनों दो भाषाएँ हो चुकी हैं और दोनों की दो भिन्न प्रकृतियाँ हो चुकी हैं।

× × ×

राष्ट्रभाषा के निर्णय में हमें तो यही देखना उचित है कि हमारे लिए हिन्दी का परम्परागत रूप अधिक उपयुक्त होगा अथवा अरबी-फारसी मिश्रित रूप। राष्ट्रीयता के सच्चे प्रेमी लोग इन दोनों में से हिन्दी के परम्परागत रूप को ही वस्तुतः अधिक उपयुक्त समझेंगे। विशेष रूप से उच्च विचारों के आदान-प्रदान में तो निश्चित ही यही रूप अधिक उपयुक्त समझा जायगा।

× × ×

हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने का एक प्रबल कारण यह है कि वह कई प्रान्तों की मातृभाषा है। जनपद आन्दोलन की सफलता के बाद

यह कारण अपने वर्तमान रूप में कहाँ तक स्थिर रह सकेगा यह विचारणीय है। फिर यह विकेन्द्रीकरण भी कहाँ जाकर रुकेगा यह कहना बहुत कठिन है। कहावत है कि एक-एक योजन पर जनपदों की बोलियाँ बदल जाती हैं। राज-नाँदगाँव की छत्तीसगढ़ी वह नहीं जो रायगढ़ अथवा बस्तर की है। इस स्थिति में जनपद के किस स्थान-विशेष की बोली को टकसाली मानकर मातृभाषा पद दिया जाय? और यदि किसी स्थान-विशेष की बोली को प्रान्त भर के लिए टकसाली समझा जा रहा है, तो हिन्दी के लिए क्यों न यह पद सुरक्षित रखा जाय? जबकि संसार राष्ट्रीयता से भी आगे बढ़कर अन्तरराष्ट्रीयता की बातें सोच रहा है, उस समय हमें 'जनपद आन्दोलन' की बातें सोचने में बहुत सतर्क रहना चाहिए।

× × ×

जिस प्रकार केवल काल्पनिक मनोराज्य के स्वप्न देखते रहना और उन्हें दुरूह शब्दावलियों द्वारा व्यक्त करते रहना छायावाद नहीं है, उसी प्रकार केवल नालियों को शहर मानकर समाज के श्याम पक्ष को क्रान्तिपूर्ण शब्दों में सामने लाते रहना ही प्रगतिवाद नहीं है। साहित्य केवल एक कला ही नहीं है। उसके कलापक्ष की अपेक्षा उसका हृदयपक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण है। वह साहित्य ही क्या जिसने हृदय विकसित न किया—जिसने सत्य की वास्तविक अनुभूति न दी। प्रसन्नता की बात्त है कि आज दिन का प्रगतिवाद 'सुन्दरम्' के साथ ही साथ 'सत्यं' और 'शिवं' की उपलब्धि की भी आवश्यकता का कुछ-कुछ अनुभव करने लगा है।

× × ×

प्रतिभा के बल पर अनुभूति के सागर को जो जितना अधिक मथ सकेगा वही उतने अधिक मूल्यवान रत्नों की लड़ियाँ बिखेर सकेगा। साहित्य रचना एक महती साधना है। हृदय का खून सुखा-सुखाकर काला कर-करके कागजों पर उँड़ेला जाता है, तब कहीं उस स्याही से लोक को अपने कल्याण की उज्ज्वल वस्तुएँ मिलती हैं। अक्षरों के रूप में ऐसी अक्षर उज्ज्वल वस्तुएँ दे सकने की जिनमें ईश्वरदत्त क्षमता है उन्हें अपना दायित्व भलीभाँति समझते रहना चाहिए।

(६) मध्यप्रदेश एवं विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राजनाँदगाँव (त्रयोदश अधिवेशन) सन् १९४९—स्वागताध्यक्षीय भाषण

इस समय एक ओर तो अर्थलोलुपता (सट्टाबाजारी) का बोलबाला है और दूसरी ओर पदलोलुपता (सत्ताबाजारी) का। दोनों प्रकार के व्यक्ति

शासन पर अपना अधिकार जमाने के लिए राजनीति के क्षेत्र में घुसकर भाँति-भाँति के संघर्ष मचा रहे हैं। उन्हें कदाचित विदित नहीं है कि साहित्यकार के संकेत से सैकड़ों सिंहासन उलटे और हजारों राज्यक्रान्तियाँ हुई हैं। वे कदाचित् यह भूल गये हैं कि मसिपात्र असिपात्र से लक्षगुण अधिक शक्तिशाली और कलम का धनी तलवार के धनी से कोटिगुण अधिक प्रभावशाली माना गया है।

× × ×

राजनीति की 'शक्ति' साहित्य के 'शिव' के संयोग के बिना उन्मार्ग-गामिनी भी हो सकती है।

(७) मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जगदलपुर, बस्तर (चतुर्दश सम्मेलन) सन् १९५०, साहित्य परिषद—अध्यक्षीय भाषण

तर्क दिया जा सकता है कि साहित्यकार कोई धर्माचार्य तो है नहीं जो केवल नैतिक स्तर की बातें सोचा करे। माना, परन्तु वह चण्डूखाने अथवा मयखाने का मैनेजर भी तो नहीं है जिसके कर्तव्य की इतिश्री केवल मादकता के वितरण में ही हो जाती है, और वह मादकता भी कैसी, जो स्वास्थ्य और सम्पत्ति दोनों को चौपट करने के लिए सदैव मुँह बाए बैठी हो। जब स्वतः साहित्यकार ही इस बात पर राजी हैं कि रचना वही ग्राह्य है जो सत् साहित्य हो तब सत्-असत् का विभाग हित-अहित की बात को सोचे बिना पूरा हो ही नहीं सकता। अतएव लोकरंजन की अपेक्षा लोककल्याण ही को काव्य का यथार्थ आदर्श मानना चाहिए।

× × ×

एक रचना वह है जिसमें केवल बाहरी मिठास है—केवल कलापक्ष है। वह बेर की तरह ऊपरी स्वाद से भले ही कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर दे, परन्तु बादाम अथवा अंगूर की तरह वह हितकारक तो हो ही नहीं सकती। और यदि उसके भीतर गहरे पैठने का प्रयत्न कीजिएगा तो सूखे काठ-सी कठोर गुठली की एक गाँठ ही मिलेगी। दूसरी वह रचना है जिसमें केवल भीतरी मिठास है—केवल भाव पक्ष है। वह हितकारक अवश्य हो सकती है परन्तु कला के अभाव में उसका बाह्य आवरण बादाम के बाहरी छिलके की भाँति कठोर और अनाकर्षक हो सकता है। तीसरी रचना वह है जो दोनों पक्षों के मार्दव से भरीपूरी है। वह अंगूर की तरह आकर्षक और साथ ही साथ हित-कारक हुआ करती है। वे साहित्यकार धन्य हैं जो इस तरह की 'अंगूरी रचनाओं' से श्रोताओं और पाठकों को मस्त बनाया करते हैं।

× × ×

जो छन्दों का ज्ञान न रखने के कारण 'निराला छन्द' की चर्चा करे, जो व्याकरण का ज्ञान न रखने के कारण 'पोएटिक लाइसेंस' अथवा 'निरंकुशाः हि कवयः' पर जोर दे, जो अपनी सांस्कृतिक परम्परा से अनभिज्ञ रहने के कारण अपनी रचनाओं द्वारा एक नई संस्कृति के निर्माण का स्वप्न देख रहा हो, जो अभ्यास के परिश्रम से तथा शिष्यत्व स्वीकार करने के संयम से बचने के लिए भाव और भाषा के स्वच्छन्द प्रवाह को दुहाई दे, जो अपने ही उद्यान में खिलने वाले प्रसूनों के रंग रूप को पौरस्त्य और पाश्चात्य लेखकों द्वारा दिये हुए चश्मों से देखकर शब्दशास्त्र के सहारे उन्हें दिखाने की चेष्टा करे, उसे चाहिए कि वह भगवती भारती के भार को और अधिक बढ़ाने का दुराग्रह न करे।

(८) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा आयोजित तुलसी महोत्सव—अध्यक्षीय भाषण

यह सत्य है कि भगवान् भक्तों का सृजन किया करते हैं परन्तु यह भी कम सत्य नहीं कि भक्त लोग भगवान् का सृजन कर दिया करते हैं। अवांग्-मनोगोचर तत्त्व को सगुण साकार रूप में सामने खड़ा कर देना भक्तों ही की कृपा का फल है। गोस्वामी जी ने संसार पर ऐसी ही कृपा की और उन्होंने अखिल मानव जाति के उच्चतम आराध्य को अपने राम में केन्द्रित करके सर्वसाधारण के सामने खड़ा कर दिया। सात समुद्र पार का एक अंग्रेज विद्वान् बरबस कह उठा है—"व्यक्तित्व विशिष्ट परमात्मा की सर्वोच्च और सर्वतोऽधिक दिव्य अभिव्यक्ति हुई है गोस्वामी तुलसीदास जी के राम में।"

× × ×

गोस्वामी जी का वास्तविक विरोध था मोह-मदी धर्म से; चाहे वह राज-वर्ग में फैला हो, चाहे प्रजावर्ग में, चाहे विदेशों में हो, चाहे हिन्दुस्तान में।

× × ×

मानस की कथा का ज्ञानमय प्रवाह लिया गया है अध्यात्म जगत् की विभूति से—शिव-पार्वती संवाद रूप से। कथा का भक्तिमय प्रवाह लिया गया है अधिदैव जगत् की विभूति से—काक-भुशुडि-गरुड़ संवाद रूप से। कथा का कर्ममय प्रवाह लिया गया है अधिभूत जगत् की विभूति से—याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद रूप से। प्रथम में राम का तात्विक रूप निखरा है, चिन्तन को संतोष देने के लिए। दूसरे में राम का भावशील अतिमानवी रूप निखरा है, कल्पना को सन्तोष देने के लिए। तीसरे में राम का ऐतिहासिक मानवी रूप निखरा है, अनुभूति को संतोष देने के लिए। चिन्तन, कल्पना और अनुभूति से रस

लेकर चौथा घाट गोस्वामी जी ने निर्मित किया है जिससे निकलकर वह सम्मिलित प्रवाह एक अभिनव मंगलमय रूप धारण करता हुआ जन-जन के भावोद्यान हरेभरे करता जा रहा है।

(६) अखिल गुजरात राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन, वल्लभ विद्यानगर आनन्द (चतुर्थ अधिवेशन) सन् १९६०—अध्यक्षीय भाषण

परतन्त्रता में हमारा अहम्, हमारा व्यक्तित्व, जो दब चुका था, जो दलित हो चुका था, उसका उभरना इस स्वतन्त्रता युग में स्वाभाविक हो गया। स्वतन्त्रता का अर्थ ही है दलित व्यक्ति के उभरने का अवसर। मानवी व्यक्तित्व की कई श्रेणियाँ उसके कई स्तर रहा करते हैं। यदि उच्चस्तरीय व्यक्तित्व सुदृढ़ न रहा तो निम्नस्तरीय व्यक्तित्व ऐसे उभार के अवसर पर उस उच्च-स्तरीय व्यक्तित्व को दबा बैठता है। आज राष्ट्रीयता को दबाकर प्रान्तीयता, जातीयता, चचा-भतीजावाद, देहात्मवाद आदि सिर उठा रहे हैं, उसका यही रहस्य है। व्यक्तित्व का प्रत्येक स्तर उभरे परन्तु वह परस्पर बाधक होकर नहीं किन्तु परस्पर समंजस होकर उभरे यही विवेक की माँग है। जहाँ यह माँग पूरी नहीं होती वहीं भाषा-विषयक विवाद और लिपि-विषयक विवाद उग्र रूप धारण करते हैं।

× × ×

हिन्दी वस्तुतः किस प्रान्त की भाषा रही है? प्रान्तों के नाम है बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र आदि। हिन्द वस्तुतः कोई प्रान्त नहीं है। वह तो समूचा देश है। उस देश के नाम से जो भाषा सँवारी गयी उसका स्वागत किया ब्रज ने, अवध ने, मगध ने, मिथिला ने, बुन्देलखण्ड ने, मालवा ने, निमाड़ ने, मेवाड़ ने, मारवाड़ ने। इन सब क्षेत्रों की अपनी-अपनी बोलियाँ थीं। और कुछ बोलियाँ—यथा ब्रज और अवधी—तो इतनी समृद्ध थीं कि उन्होंने परिष्कृत भाषा का रूप धारण कर लिया था। परन्तु किसी ने हिन्दी का विरोध नहीं किया और परिणाम यह हुआ कि इन सब स्थानों में हिन्दी मातृभाषावत् हो गयी। आज इन क्षेत्रों में यह कल्पना तक भी नहीं उठ सकती कि उनमें से कोई हिन्दी अथवा हिन्द से पृथक् भी हो सकता है।

× × ×

हिन्दी साहित्य का मौलिक भण्डार एवं अनूदित भण्डार इतना समृद्ध तथा आकर्षक बना दिया जाय कि अहिन्दी भाषी सज्जन भी उसका रस लेने के लिए तथा उसमें आत्मीयता का अनुभव करने के लिए इस ओर खिंच आयँ।

× × ×

क्या ऐसे संस्कृतोद्भव देशज तथा विदेशी शब्दों की सूची नहीं तैयार की जा सकती जो अधिकांश प्रदेशों में समान रूप से व्यवहृत हो सकें ? ऐसे शब्दों को और ऐसे वाक्य प्रयोगों को छाँटकर प्रदेश भाषाओं में और राष्ट्रभाषा में भी उन्हीं के व्यवहार को प्राथमिकता देना, भाषा-विषयक विवाद को कम करने और राष्ट्रभाषा का पथ प्रशस्त करने का एक अच्छा तरीका होगा।

× × ×

यह कहना कि हम हिन्दी उसी हालत में सीखेंगे जब हिन्दी वाले भी हमारी भाषा सीखने के लिए तैयार हो जायँ, राष्ट्रीयता के लिए एक प्रकार की सौदेबाजी होगी। हमें तो यह मानकर चलना चाहिए कि हमारा एक राष्ट्र है और उस राष्ट्र के लिए हमें एक राष्ट्रभाषा समृद्ध करनी है। कुछ प्रदेशों ने यदि राष्ट्रभाषा को शताब्दियों के अभ्यास से मातृभाषावत् बना लिया तो उन पर खीझकर एक भाषा और पढ़ने की अनिवार्यता क्यों लादनी चाहिए ?

(१०) मध्यप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रायपुर (द्वितीय अधिवेशन) सन् १९६०—अध्यक्षीय भाषण

मनुष्य क्रियाशील भी है, भावशील भी है और विचारशील भी है। उसकी क्रियाएँ प्रधानतः विचारों से नहीं किन्तु भावों से प्रेरित रहा करती हैं और भावों के परिष्कार की सामग्री देना साहित्य का ही कार्य है। स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, संगीत आदि की कलाएँ भी कुछ अंशों तक भावों का उन्नयन करती हैं; परन्तु जो स्थायित्व साहित्य के प्रभाव का रहता है और विचारों तथा भावों की जितनी राशि साहित्य में पुजीभूत रहती है उतनी दूसरी ललित कलाओं अथवा मानव जीवन की व्यवस्था के अन्य किसी भी क्षेत्र में दुर्लभ है। लोक-व्यवहार का कर्मक्षेत्र अथवा ज्ञान-विज्ञान का विचारक्षेत्र मानव जीवन के अधूरे पक्षों को ही लेकर चलता है जबकि साहित्य उस जीवन के सभी पक्षों का समग्र प्रतिबिम्ब बनकर असुन्दर वस्तुओं को भी लोकोत्तर सुन्दरता से भरता चलता है।

× × ×

अधिकारिता की कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति अथवा तिजोरी की चाभियाँ हाथों पर नचाता हुआ व्यक्ति केवल अपने अधिकार अथवा अपने धन के बल पर साहित्यकार हो जाय यह असम्भव है। परन्तु सरस्वती की सेवा करने वाला साधक केवल अपनी साहित्यकारिता के बल पर लक्षाधीश भी हो सका है और महामंत्रित्व के से पद भी प्राप्त कर चुका है।

× × ×

पाठशाला का शिक्षक भावी राष्ट्र को बनाने अथवा बिगाड़ने वाला कहा जाता है। परन्तु उससे भी अधिक बनाने अथवा बिगाड़ने वाला होता है साहित्यकार जिसकी कृतियों का सहारा लेकर शिक्षकगण अपना कार्य करते हैं।

× × ×

हमें एक ओर जहाँ प्रचारात्मक साहित्य की व्यवस्था करनी है वहाँ दूसरी ओर विचारात्मक साहित्य का भी यथेष्ट मात्रा में निर्माण कराना है।

× × ×

साहित्यकार भावयोगी होता है। उसकी साधना ज्ञानयोगी अथवा कर्मयोगी की साधना से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं। भावयोग का तो लोकोत्तर आनन्द से सीधा सम्बन्ध रहता है अतएव वह मुक्तावस्था में स्वत: भी अनायास पहुँच सकता और अपने सहृदय श्रोताओं अथवा पाठकों को भी अनायास पहुँचा सकता है। यही वह साधन है जिसकी साधनावस्था में भी आनन्द है और सिद्धावस्था में भी आनन्द है, जिसका साध्य भी आनन्दस्वरूप है और साधन भी आनन्दस्वरूप है। परन्तु इस साधना के लिए शक्ति, अध्ययन और अभ्यास तीनों के ऊँचे सहयोग की आवश्यकता रहती है।

× × ×

प्रादेशिक हिन्दी का भी यह अपना कर्तव्य हो जाता है कि वह जन-बोली और जन-जीवन से भलीभाँति सम्पर्क रखती हुई बढ़े। जो जलधारा जीवन-स्रोत से हटकर बढ़ना चाहेगी वह मूल प्रवाह से अपना सम्पर्क खोकर न केवल अपनी प्रगति ही खो बैठेगी किन्तु गति के अभाव में सड़ांध भी पैदा कर लेगी। हिन्दी की प्रादेशिक धारा का मूल स्रोत से सम्बन्ध बना रहे इसके लिए आवश्यक है कि वह लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थों और लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशकों के आवरणों में ही अपने को अवगुंठित न कर ले। वह खुली दृष्टि से स्थानिक समस्याओं का अनुशीलन करे, स्थानिक सज्जनों से घनिष्ठता बढ़ाये, स्थानिक वस्तुओं पर ममत्वपूर्ण किन्तु सत्यनिष्ठ प्रकाश डाले। हमारे साहित्यमनीषी बन्धु अपने चिन्तन की दिशा को इस ओर मोड़ें और हमारे अनुसंधित्सु विद्यार्थी इन तत्त्वों पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करें।

(११) बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा (तेईसवाँ पदवीदान अवसर) सन् १९६२—दीक्षान्त भाषण

भाषा केवल अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है किन्तु विचारों और भावों में एकरूपकता लाने का भी माध्यम है। एक ही प्रकार की शब्दावली और

वाक्यावली एक ही प्रकार की विचारावली और भावावली भी अंकित करती चलती और इस प्रकार अनायास एक ही प्रकार की वर्गचेतना जाग्रत करती चलती है। राष्ट्रीयता एक वर्गचेतना ही तो है। उसे प्रबुद्ध तथा दृढ़ करना राष्ट्रसेवकों का प्रधान कर्तव्य होना ही चाहिए।

× × ×

साहित्य के लिए व्रज अथवा अवधी का प्रयोग करना किन्तु बोलचाल के व्यवहार के लिए हिन्दी (खड़ी बोली) का प्रयोग करना अनेक प्रान्तों में हाल-हाल तक चलता रहा है।

× × ×

अंग्रेजी न तो विश्वमान्य भाषा है न भारत के सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य है। उसमें न भारतीय हृदय की धड़कन है न भारतीय आत्मा उतर पायी है। तटस्थ विदेशी लोग यदि भारतीय जीवन का जाग्रत प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें अंग्रेजी नहीं किन्तु हिन्दी का सहारा ताकना होगा।

× × ×

तमिल का साम्राज्य तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम पर था, बंगला का साम्राज्य उड़िया और असमिया पर था, तथा गुरुमुखी का साम्राज्य पंजाब के दोनों हिस्सों पर था। अब यदि उनका साम्राज्य हट गया और स्वाभाविक ढंग पर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का उन क्षेत्रों में स्वागत हो रहा है तो इन्हें रुष्ट होने के बदले समझ लेना चाहिए कि साम्राज्यवाद के दिन अब चले गये।

× × ×

यह तर्क लचर है कि हिन्दी में समृद्ध साहित्य नहीं है; अन्तरराष्ट्रीय स्तर के विचार विनिमय की क्षमता नहीं है। यदि नहीं है तो वह आलोचक भी तो दोषी है क्योंकि हिन्दी को समृद्ध करना सब भारतीयों का समान कर्तव्य है।

× × ×

अन्तरप्रान्तीय व्यवहार क्षेत्रों के आदान-प्रदान की विविधता और विपुलता के इस युग में वे राष्ट्रभाषा को राजभाषा के पद से कब तक और किस हद तक दूर रख सकेंगे, यह उन्हें ही सोच लेने दिया जाय।

× × ×

हिन्दी के प्रचारक तो सत्ता संघर्षों से दूर रहकर अपना काम किये जायँ। प्रचार भी एक कला है। चाय के प्रचारक ने पहले कितनी झिड़कियाँ खायीं और बीमा कम्पनी का प्रचारक क्या अब भी झिड़कियाँ नहीं खाता? परन्तु

उनके ही प्रचार का परिणाम है कि चाय और बीमा को इतनी व्यापकता मिल सकी।

× × ×

हिन्दी में ऐसे शब्दकोष की आवश्यकता है जो हिन्दी तथा समीप की अहिन्दी भाषाओं के लिए सामान्य हो तथा सर्वसाधारण में भी जिसका पर्याप्त प्रचलन हो सके। हिन्दी-सेवक लोग हिन्दी तथा अहिन्दी भाषा के साहित्यकारों को प्रेरणा दें कि वे अपनी कृतियों में ऐसी ही शब्दावली का व्यवहार विशेष-रूप से करें। अनेक ऐसे प्रवचनकारों अथवा कीर्तनकारों की आवश्यकता है जो हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य को अहिन्दी क्षेत्र में जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी प्रतिभा और कला का पूरा उपयोग करें। चन्द्रकान्ता संतति में यह रोचकता थी कि उसे पढ़ने ही के लिए बहुतों ने हिन्दी सीखी। उड़िया की कृष्णगाथाएँ गाने के लिए मध्यप्रदेश के कई वन्य गिरिजनों ने धूल पर उँगलियों से लिख-लिखकर उड़िया वर्णमाला सीखी है। अपनी राष्ट्रभाषा में इस तरह की कृतियों का निर्माण होना चाहिए।

६

डाक्टर साहब की कृतियों पर कुछ सम्मतियाँ

१. विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर :

'कोशल किशोर' विश्वभारती पुस्तकालय के लिए मूल्यवान् योगदान है। वह हमारे विद्यार्थियों के लिए असंदिग्ध रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। (११-६-३४)

२. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त :

आपकी रचना ('कोशल किशोर') प्रसादगुण से पूर्ण है। स्थान-स्थान पर मैं आनन्दित और चमत्कृत भी हुआ। (१३-६-३४)

मैं मिश्रजी को प्रणाम करके प्रत्यक्ष आशीर्वाद के समान इसे ('साकेत सन्त' को) शिरोधार्य करता हूँ। (ग्रन्थ की भूमिका से—शरत् पूर्णिमा सं० २००३)

३. 'प्रियप्रवास'कार पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' :

आपने 'कोशल किशोर' की रचना बड़ी सहृदयता के साथ की है। मैं उसको पढ़कर आनन्दित हुआ। यत्रतत्र उसमें कवि प्रतिभा का विकास अच्छा देखा जाता है। ऐसा उत्तम ग्रन्थ बनाने के लिए मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। (२३-१२-३३)

४. हिन्दी के युग-प्रवर्तक पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी :

बलदेव प्रसादाय शास्त्रज्ञाय महात्मने
सादरं बुधवर्याय भूयो भूयो नमोस्तुते।

('जीव विज्ञान या जीवन दर्शन') पुस्तक बड़े महत्त्व की है। हिन्दी में बिलकुल ही नई चीज है। धन्योऽसि। (७-६-२६)

जो विषय आपकी पुस्तक का है उस विषय की कितनी ही पुस्तकें मैं उलट-पुलट चुका हूँ, पर इस कण्टकाकीर्ण कानन में मुझे काँटों और कंकड़ों के सिवा और कुछ न मिला। रत्न यदि कहीं थे तो वे मेरी नजरों से छिपे रहे। यह दोष उन ग्रन्थों का नहीं, मेरा ही था। परन्तु आपकी पुस्तक के अवलोकन से मुझे अनेक तत्त्वरत्नों की प्राप्ति हो गयी। अतएव आप मेरी कृतज्ञता स्वीकार कीजिए। आप धन्य हैं। सविशेष शास्त्रालोचना और मनन के अनन्तर आप यह परमोपयोगी पुस्तक (जीव विज्ञान) लिखने में समर्थ हुए हैं। (२०-७-२६)

'गीतासारं' पुस्तकं वीक्ष्य रम्यं ज्ञानागारं पूर्ण-पाण्डित्य-पूतं ।
विद्वद्वन्द्यं लोककल्याणकारि, तोषो मोदोऽवर्ण्णनीयो मयातः ।।

'कोशल किशोर' निःसन्देह महाकाव्य कहा जाने योग्य है । इसका सबसे बड़ा गुण सरसता और सरलता है । उक्तियाँ भी कहीं-कहीं बड़ी ही मनोरम हैं । (१२-९-३४)

आपके 'श्याम शतक' के कई पद्य पढ़कर मुझे रोमांच हो आया और आँखें साश्रु हो गयीं । (१६-८-३६)

'तुलसी दर्शन' की कापी आपने क्या भेजी मुझे संजीवनी का दान दे डाला ।······मैं मुग्ध हो गया । आप धन्य हैं । ऐसी पुस्तक लिखी जैसी तुलसी पर आज तक किसी ने न लिखी और न यही आशा है कि आगे कोई लिखेगा । ······आपने इस विषय में जो विद्वत्ता प्रदर्शित की है वह दुर्लभ है ।·········· भैय्या मिश्रजी, मैं रामायण का भक्त हूँ······मुझे मेरे मन की पुस्तक लिखकर भेजी, धन्यवाद । भगवान् आपका कल्याण करे । (२२-९-३८)

५. आलोचक प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल :

('तुलसी दर्शन' में) मिश्रजी ने बड़ी पूर्णता और व्यवस्था के साथ विषय का प्रतिपादन किया है । उन्होंने वैदिक, पौराणिक और भक्ति साहित्य के विशाल भण्डार से सामग्री संकलित करके बड़े विवेक के साथ उसका उपयोग किया है । उनका शोध-प्रबन्ध महान अध्यवसाय और व्यापक अध्ययन का परिणाम है । (विश्वविद्यालय को भेजी हुई रिपोर्ट—१८-७-३८)

६. राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद :

मैंने रामायण की कथा ही नहीं उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भी उनके (डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के) मुख द्वारा सुनी···और उससे मैं प्रभावित हुआ हूँ ।···उन्होंने अपने विषय का गहरा अध्ययन किया है । उनके विचारों में प्रौढ़ता है और भाषा विचारों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुई है । मानस पर श्री मिश्रजी ने लिखकर हिन्दी और मानवता के प्रति जो कार्य किया है वह सराहनीय है । रामायण तो हमारे जन-मानस की माधुरी है ही और ग्राम-जीवन तक में वह रमी हुई है । उतनी ही सरलता के साथ उसके मौलिक रूप को श्री मिश्रजी ने अपने गहरे चिन्तन और अध्ययन से और सुन्दर बनाया है । ('मानस माधुरी' की भूमिका से—२६-८-५८)

७. भारत के प्रधान न्यायाधीश श्री भुवनेश्वरप्रसाद सिंह :

'भारतीय संस्कृति' नामक अनुकरणीय ग्रन्थ के प्रणेता डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने मुझसे इसकी भूमिका लिखाकर मुझे सम्मानित ही किया है ।······इस ग्रन्थ के प्रणयन में उन्होंने जो ऊँची अध्ययनशीलता, गहन चिन्तन और शोध

का प्रदर्शन किया है उसका मैं पूरी तरह समर्थन करता हूँ। (भूमिका से—२६-८-५२)

८. सुप्रसिद्ध दार्शनिक राज्यरत्न डा० भगवानदास जी :

('जीव विज्ञान' पुस्तक के सम्बन्ध में) विविध अध्ययन में, विचारों और भावों के संग्रह में, उनको स्वतन्त्र क्रम से बाँधने में, आपने अच्छा परिश्रम किया है। (८-६-२९)

९. डाक्टर सर हरीसिंह गौर, एम० ए०, डी० लिट्०, डी० सी० एल०, एल-एल० डी०, उपकुलपति, नागपुर तथा दिल्ली विश्वविद्यालय :

पं० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'उमर खैय्याम' का अनुवाद हिन्दी काव्य के उज्ज्वल भविष्य का संकेत देता है। (२४-१२-३३)

१०. महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा, उपकुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय :

'जीव विज्ञान' के प्रकाशन पर मैं आपको बधाई देता हूँ। उसका संकलन बड़ी सावधानी से हुआ है और उसमें विशाल अध्ययन तथा चिन्तन के तत्व मिलते हैं। (१८-१-२९)

११. डा० अमरनाथ झा, उपकुलपति, प्रयाग तथा बनारस विश्वविद्यालय :

'हमारी राष्ट्रीयता' मिली। मैंने इसे रुचि से पढ़ा। पुस्तक बहुत उपयोगी है। इससे नवयुवकों को भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। (१०-११-४८)

१२. डा० हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, डी० लिट्०, गवर्नमेंट एपिग्रैफिस्ट :

'जीव-विज्ञान' बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। जिस ढंग से वह लिखा गया है उससे विदित होता है कि ग्रन्थकार बहुत ही उच्चकोटि का लेखक है। (२४-१-२९)

१३. प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर डा० हीरालाल, डी० लिट्० :

'जीव विज्ञान' में चमत्कारी चिन्तन है। गौरवपूर्ण भाषा में लिखा गया है। (१६-१२-२५)

आपका नाटक 'समाज-सेवक' अत्यन्त मनोरंजक और शिक्षाप्रद पाया। समाज सेवक जैसा उसका नाम है वैसा ही वह गुण रखता है। इस समाज सेवा के लिए बधाई। (१९-१-३४)

१४. संस्कृत एवम् शोध के सुप्रसिद्ध आचार्य महामहोपाध्याय डा० वी० वी० मीराशी :

'तुलसी दर्शन' के प्रत्येक पृष्ठ पर विद्वत्ता और शोध-विवेक के दर्शन होते हैं जिनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। मेरी सम्मति में वह तुलसीदास जी की

महान् कृति के दार्शनिक पक्ष का बहुत विश्वसनीय और संतुलित प्रतिनिधित्व कर रहा है। (२९-३-३९)

१५. महामहोपाध्याय साहित्य वाचस्पति रायबहादुर बी० जगन्नाथ 'भानु' :

गीता पर जैसे लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' है रामचरितमानस पर वैसे ही आपका यह 'तुलसी दर्शन' है। इस पुस्तक से हिन्दी साहित्य के एक वृहत् अभाव की पूर्ति हो गयी है। आज तक रामायण के रहस्य का उद्घाटन इतना अच्छा नहीं किया गया था। धन्य है आपकी लेखनी। (१३-१०-३८)

'कोशल किशोर' की बड़ी सुन्दर रचना हुई है। बारहवें सर्ग में राम जी के मुँह से आपने जो उक्तियाँ कहलाई हैं, एकदम नई हैं। आपकी सूझ की बलिहारी है। यत्र-तत्र आपने जो ऋतु-वर्णन किया अत्यन्त रोचक है। पद-लालित्य, शब्द-योजना, भाव, भाषा सभी प्रकार से पुस्तक प्रशंसा-योग्य है। (३-१०-३४)

१६. साहित्य वाचस्पति पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय :

आपके दोनों कृतिरत्नों को पढ़कर बड़ा आनन्द मिला। वे आपके साधिकार लेखन को बहुत गौरवान्वित बना रहे हैं। ईश्वर करे आप मध्यप्रदेश के लेखकों में शीर्षस्थ बनें तथा वर्तमान में और भविष्य में भी उच्च साहित्यिक सम्मानों से विभूषित हों। (२५-११-३४)

१७. श्री के० सी० नियोगी, भू० पू० दीवान, मयूरभंज, परामर्शदाता, नरेन्द्र मण्डल एवम् सदस्य योजना आयोग:

रियासती मामलों और प्रशासन का अनुभव डा० मिश्र के इस ढंग की पुस्तक लिखने की अच्छी कुशलता सिद्ध कर रहा है। पुस्तक ('व्हाट ए रूलर शुड नो') अपने दृष्टिकोण से एकदम व्यावहारिक है। (भूमिका में)

१८. पं० श्रीराम बाजपेयी, संचालक, सेवा समिति बालचर संस्था, प्रयाग :

बालचर आन्दोलन में नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु उपयुक्त पुस्तक के अभाव में यह अंग उपेक्षित था। 'समाज सेवक' ठीक ऐसा ही नाटक है जिसकी आवश्यकता थी। वह रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त है। स्काउट संसार में उसकी अच्छी कद्र होगी ऐसी मैं आशा करता हूँ। मैं श्री मिश्रजी को उनके इस प्रयत्न के लिए बधाई देता हूँ। (ग्रन्थ की भूमिका से)

१९. काका कालेलकर, एम० पी० :

'जीव विज्ञान' में आपका विवरण बिलकुल मौलिक है। (२०-५-३६)

२०. आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, प्रयाग :

महात्मा तुलसीदास पर इससे ('तुलसी दर्शन' से) अच्छी विवेचनात्मक पुस्तक अभी तक नहीं छपी। ('सुधानिधि' वर्ष ३० सं० ३)

२१. सुप्रसिद्ध दार्शनिक लाला कन्नोमल, एम० ए० :

'जीव विज्ञान' पुस्तक बड़े मार्के की है। अब तक इस विषय की ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आयी। सागर को गागर में भर दिया है। तिस पर भी लेखन शैली ऐसी सरल, बोधगम्य और रोचक है कि विषय गम्भीर होने पर भी पाठक का मन पुस्तक छोड़ने को नहीं करता है।······ज्ञान प्राचीन है पर प्रतिपादन की शैली एकदम नवीन और अद्वितीय है।······लेखक महोदय ने यह काम बड़े कमाल का किया है कि चित्त की स्पष्ट परिभाषा देकर जो बात दार्शनिक ग्रन्थों में अधूरी रह गयी थी, उसे पूरा कर दिया है।······हिन्दी में मनोविज्ञान विषय का ग्रन्थ इससे बढ़कर कोई नहीं है। ('माधुरी' वर्ष ६, खण्ड १ सं० १)

२२. रामनरेश त्रिपाठी, तुलसी साहित्य तथा ग्रामगीतों के प्रसिद्ध विद्वान :

तुलसीदास पर आपका निबन्ध बड़े मनोयोग से पढ़ गया। आपने बड़ा परिश्रम किया और तुलसीदास को खूब हृदयंगम किया है। बधाई है। (६-४-३६)

२३. सुप्रसिद्ध आलोचक पं० किशोरीदास बाजपेयी, शास्त्री :

'भारतीय संस्कृति' बड़ी उत्तम चीज है। प्रसार पाने योग्य है। 'जीव विज्ञान' देखकर अचरज हुआ कि काव्य साहित्य का रस लेने वाला मधुप ऐसे गहन वैज्ञानिक विषयों में भी इतनी गहराई से घुसकर विहार कर सकता है। बड़ी सुन्दर पुस्तकें हैं। (७-१०-५३)

२४. आचार्य डाक्टर सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, प्रयाग :

यह मेरी कल्पना के बाहर है कि आप इतने बहुधन्धी रहते हुए भी इतने भिन्न-भिन्न विषयों पर साधिकार लेखनी चलाने के लिए समय कैसे निकाल लेते हैं। (२३-४-३५)

२५. म० प्र० के प्रथम पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन :

श्री मिश्रजी के ये व्याख्यान (नागपुर विश्वविद्यालय में दिये हुए तथा 'भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास जी का योगदान' शीर्षक से ग्रन्थ रूप में छापे गये व्याख्यान) हिन्दी साहित्य ही नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति में मूल्यवान धरोहर हैं। तुलसी साहित्य के अध्ययन का नया दृष्टिकोण श्री मिश्र जी ने प्रदर्शित करके साहित्य-सेवियों को जो नवीन 'टेकनीक' परिलक्षित कराया है, वह साधारण लोगों के लिए जितना कठिन है उतना अर्थ-गांभीर्य से भी भरा पड़ा है।······पुस्तक संग्रहणीय और आवश्यक है।

(आश्विन २०११ विक्रम)

२६. आचार्य श्री नन्ददुलारे जी बाजपेयी :

सांसारिक अनुभव और विस्तृत प्रबन्ध-योजना में इनकी (डा० मिश्र की) असाधारणता सिद्ध हुई है। ('साकेत सन्त' में) उच्चकोटि का प्रबन्ध कौशल और पांडित्य अत्यधिक स्पष्ट है। (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ से)

२७. आचार्य डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डी० लिट्० :

'मानस मन्थन' अत्यन्त उपयोगी संकलन है। (१६-३-४२)

('मानस में रामकथा') अत्यन्त रोचक और उपयोगी है। आपको हार्दिक बधाई। (३१-६-५२)

२८. आचार्य श्री ललिता प्रसाद सुकुल, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्व-विद्यालय :

('कोशल किशोर') काव्य में इसके योग्य कलाकार ने आदि से अन्त तक बड़ी ही परिष्कृत सुरुचि का परिचय दिया है······इतनी सरसता तथा इतनी वर्णन पटुता हमें बहुत ही कम काव्यों में देख पड़ेगी।···खड़ीबोली जो प्रायः अपने कड़ेपन के लिए बदनाम-सी समझी जाती है, उसमें भी इतनी मृदुता भर देना तथा उसका यथेष्ट शुद्ध रूप में निर्वाह कर ले जाना मिश्रजी जैसे विद्वानों का ही काम है।···मिश्रजी की इस आशातीत सफलता के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। ('लोकमान्य' २६-११-३४)

२६. डाक्टर रामकुमार वर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय :

('कोशल किशोर' में) कवि ने राम की कथा को केवल भक्तिमय ही नहीं रखा वरन् उसमें सामयिकता और व्यावहारिकता का भी विशेष स्थान रखा है।·········इस ग्रन्थ मे मनोवैज्ञानिक चित्रण भी हमें बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित किये हुए मिलते हैं। 'कोशल किशोर' एक सुन्दर काव्य है। ('दैनिक भारत' २५-११-३५)

मिश्रजी ने इस 'जीवन संगीत' में कविता के साथ दर्शन का जो समन्वय किया है, वह भाव की दृष्टि से जितना ही आत्मविभोर करता है उतना ही दर्शन की दृष्टि से आत्म जागृति में सहायक होता है। 'जीवन संगीत' यद्यपि एक छोटी-सी रचना है पर उसमें भावों का गाम्भीर्य यथेष्ट है। कविता और दर्शन की इस सरल संयुक्त कृति को इतने सरस और सुबोध रूप में उपस्थित करने के लिए मैं पं० बलदेव प्रसाद मिश्रजी को बधाई देता हूँ। आधुनिक काव्य में जब जीवन का चित्रण निराशापूर्ण शब्दों में हो रहा है, मिश्रजी का 'जीवन संगीत' उल्लास का सूत्रपात करेगा, ऐसी आशा है।

(ग्रन्थ की भूमिका से)

आपका ग्रन्थ जो 'तुलसीदास के सांस्कृतिक योगदान' पर है, अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। इस दृष्टि से तुलसीदास के काव्य पर आज तक अध्ययन नहीं हुआ। (१२-११-५४)

३०. आचार्य डा० विनयमोहन शर्मा :

'आँसू' छन्द में······जहाँ प्रसाद ने आँसुओं से मुँह धोकर नव-प्रभात की ओर दृष्टि उठायी है वहाँ मिश्रजी ने हँसी से ओठों को पोंछकर 'जीवन संगीत' की बंशी बजायी है। एक में तड़प, सिहरन और छलकन है तो दूसरे में मृदुतान मुस्कुराहट, आशा, जीवन-रसानुभूति तथा आत्म-जागृति है। दोनों के विश्वदर्शन की दृष्टि भिन्न है पर दोनों भिन्न गति में चलकर भी रसदान में एक ही धरातल पर मिलते हैं।·········हिन्दी में आशावाद का यह स्फूर्तिदायक काव्य है जो थके हुए मन को क्षण भर उल्लसित करता है और अपने को समझने की शक्ति प्रदान करता है। इसमें दार्शनिकता है पर काव्य का मधुर रस भी है। ('स्वराज्य' अगस्त ४०)

आधुनिक युग की तर्क कसौटी पर आपकी 'मिश्र स्मृति' खरी उतरती है। आपके इन विचारों का घर-घर प्रचार होना चाहिए। (१४-११-४८)

मार्ग में ब्रज काव्य ('श्याम शतक') की माधुरी का आस्वादन करता आया। आप पर सचमुच सरस्वती का वरद हस्त है। खड़ीबोली, ब्रजभाषा दोनों में आपकी गति समान है। 'रत्नाकर' सी सफाई आपकी ब्रजभाषा में पायी जाती है। मेरी ओर से बहुत-बहुत बधाई स्वीकार कीजिए।

'मानस रामायण' का रूपक भी नूतनता लिये हुए है। (१६-११-६०)

३१. आचार्य डा० मुंशीराम जी शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आगरा विश्वविद्यालय :

'साकेत सन्त' का रचयिता ऐसे ही विरल विज्ञों की श्रेणी में है जो अपनी सहृदयता और निर्मल बुद्धि के द्वारा विश्व में वन्दनीय पद प्राप्त किया करते हैं।······यह महाकाव्य अपने कई गुणों के कारण साहित्यिक जगत में प्रख्याति प्राप्त करेगा और अमर रहेगा।······'साकेत सन्त' सभी दृष्टियों से हिन्दी का एक श्रेष्ठ काव्य है। विद्वद्वर कवि-हृदय डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र को इस सुन्दर रचना के लिए हम भूरि-भूरि बधाई देते हैं। ('राम राज्य' ३-२-४७)

३२. 'साकेत सन्त' एक सफल और सुन्दर काव्य है और मिश्रजी वस्तुतः बधाई के पात्र हैं। ('सरिता' नई दिल्ली)

३३. 'मनाचेश्लोक' का अनुवाद 'हृदयबोध' के रूप में देकर लेखक ने समाज की बड़ी सेवा की है। ('नागपुर टाइम्स' १९५३)

'जीव-विज्ञान' पर

दौलतपुर (रायबरेली)
२० जुलाई, १६२६

बलदेवप्रसादाय शास्त्रज्ञाय महात्मने ।
सादरं बुधवर्य्याय भूयो भूयो नमोऽस्तुते ।।

पण्डित जी महाराज,

आपकी पुस्तक 'जीव-विज्ञान' की कापी मुझे १६ जनवरी, १६२६ ई० को मिली थी। तब से बराबर वह मेरे सामने रही। मैं जड़ भरत-सा हो रहा हूँ। दिमाग पक-सा गया है। न विशेष लिख पढ़ सकता हूँ, न सोच सकता हूँ। डाक्टरों ने सख्त मुमानियत कर दी है, कुछ भी न लिखो।

इस हालत में भी मैं आपकी पुस्तक एक-एक दो-दो सफे देखता रहा। यह देखना कहीं अब खतम हुआ है।

जो विषय आपकी पुस्तक का है उस विपय की कितनी ही पुस्तकें मैं उलट-पुलट चुका हूँ। पर इस कण्टकाकीर्ण कानन में मुझे कुछ काँटों और कंकड़ों के सिवा और कुछ न मिला। रत्न यदि कहीं थे तो वे मेरी नजरों से छिपे रहे। यह दोप उन ग्रन्थों का नहीं, मेरा ही था। परन्तु आपकी पुस्तक के अवलोकन से मुझे अनेक तत्त्वरत्नों की प्राप्ति हो गयी। अतएव आप मेरी कृतज्ञता को स्वीकार कीजिए।

आप धन्य है। सविशेष शास्त्रालोचना और मनन के अनन्तर आप यह परमोपयोगी पुस्तक लिखने में समर्थ हुए हैं।

मैं इस विषय का ज्ञाता नहीं। अतएव तात्विक परामर्श (suggestions) देने में असमर्थ हूँ। हाँ, कुछ बाहरी बातों के विषय में मैं अत्यल्प निवेदन करना चाहता हूँ।

यह विषय अत्यन्त गहन है। और आपकी पुस्तक शास्त्रज्ञों या तत्त्वदर्शियों के लिए शायद नहीं। साधारण जनो के लिए है। अतएव भक्तिमार्ग पर जब आप अपनी अभीष्ट पुस्तक लिखें तब भाषा बहुत सीधी-सादी लिखें। पारिभाषिक शब्दों से यथाशक्ति बचें। वाक्य छोटे-छोटे रखें। जटिलता न आने दें। पुस्तक का पृष्ठ ३७७ देखिए। "इसीलिए जब आत्मा" से लगाकर ३७८ पृष्ठ पर पैराग्राफ के अन्त तक की भाषा बहुत चुस्त और आमफहम है। ऐसी ही सर्वत्र होनी चाहिए थी।

कहीं-कहीं कुछ बातें या विचार सन्देहजनक हैं। ३७६ पृष्ठ पर "अदृष्ट की प्रेरणा" है। सवाल हो सकता है कि यह अदृष्ट क्या चीज है? 'उदर' शब्द बहुत व्यापक है। भागवत की बातें जाने दीजिए। आप पुराण नहीं लिख

रहे, विज्ञानचर्चा कर रहे हैं। वीर्यस्थिति उदर में नहीं गर्भाशय में होती है, जो उदर ही के अन्तर्गत एक अवयव विशेष है। "जीव पुरुष के वीर्यकणों का आश्रय लेकर स्त्री के उदर में गर्भरूप से प्रवेश करता है।" यह चिन्त्य है। क्या जीव प्रवेश में स्त्री के रजःकण कुछ भी सहायता नहीं करते ?

जहाँ-जहाँ आपने उद्देश्य शब्द का प्रयोग किया है वहाँ-वहाँ देखिए वही शब्द मौजूँ है या उद्देश को भी कहीं दाद मिल सकती है।

ये दो चार निवेदन मेरी धृष्टता के फल हैं। आपने आज्ञा दी है इसलिए इस तरह के निवेदन का साहस हुआ।

मेरे सदृश जिज्ञासुओं पर आप एक और भी कृपा कीजिए। जैसे आप भक्तिमार्ग पर एक अलग पुस्तक लिखने वाले हैं वैसे ही आत्म परमात्म विषयक भी (ब्रह्म, जीव और मायापरक भी) पुस्तक लिखकर अनेकानेक लोगों पर उपकार कीजिए।

इस लम्बी चिट्ठी के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

'कोशल किशोर' पर

'साकेत' के बाद कुछ ऐसा जान पड़ता था कि खड़ीबोली के इस आधुनिक युग में कदाचित् किसी दूसरे अच्छे काव्य के दर्शन शीघ्र न हो सकेंगे क्योंकि गुप्तजी को जितनी सफलता उसमें मिली वह कुछ अंशों में आशातीत ही कही जायगी। परन्तु सहसा 'कोशल किशोर' ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। यद्यपि इसके कुछ अंश बहुत पहले जरा दूसरे रूप में हमारे सम्मुख आ चुके हैं तथापि अपने वर्तमान रूप में उसका आकर्षण कुछ विलक्षण ही है। क्यों न हो, शैशव के पश्चात् किशोरावस्था का आगमन ऐसा ही हुआ करता है। इस काव्य में इसके योग्य कलाकार ने आदि से अन्त तक बड़ी ही परिष्कृत सुरुचि का परिचय दिया है। राम चरित्र का यह अंश वास्तव में बड़ा ही अनूठा है। पग-पग पर जिस जीवन में स्नेह और अनुराग के अतिरिक्त अन्य किसी 'विरसता' के लिए स्थान ही न हो भला उसके वर्णन में कला का कौनसा ऐसा पार्श्व है जो अछूता रह जाय ? वरन् सच बात तो यह है कि जैसा 'साकेत' के लेखक ने अपने प्रारम्भिक अंश में कहा था कि "राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है" उसका उल्टा सीधा कैसा ही वर्णन उच्च कला से विहीन नहीं हो सकता। इस छोटे से काव्य में कवि ने नैसर्गिक वर्णन शैली का बड़ा ही ऊँचा आदर्श स्थापित किया है। खड़ीबोली जो प्रायः अपने कड़ेपन के लिए बदनाम-सी समझी जाती है उसमें भी इतनी मृदुता भर देना तथा उसका

यथेष्ट शुद्ध रूप में निर्वाह कर ले जाना मिश्रजी जैसे विद्वानों का ही काम है। बन विपिन तड़ागों का सर्वांग सम्पूर्ण वर्णन तथा तपोवन के सात्विक जीवन का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। आजकल के वैज्ञानिक युग की अस्वाभाविकता में भी पवित्र स्वाभाविकता का अनुभव करा देना एक उच्चकोटि के कवि का ही काम हो सकता है।

'बध बुरा क्यों यदि भरा उसमें अहिंसा भाव।' यह कहकर कवि ने बड़े ही अनूठे ढंग से अपने नायक का पक्ष पुष्ट किया है। इसी प्रकार मृगया के अवसर पर 'पशुवध से पशुबल-बध अच्छा' (पृष्ठ ४५) कहकर भी कवि ने अपना आगे का मार्ग बड़ी अच्छी विधि से सुलझा लिया है।

'युद्ध' सर्ग में राक्षसों का वर्णन भी कम स्वाभाविक नहीं। उनके स्वभाव की शायद ऐसी कोई बात नहीं जिसे कवि ने अछूता छोड़ दिया हो। परन्तु उन्ही स्थलों पर कवि ने आधुनिक भारतीय जीवन की आलोचना भी कम कड़ी नहीं की है। यथावकाश कवि एवं कलाकार के अपने कर्तव्य के साथ ही 'सेवा भाव' को मिश्रजी भूल नहीं सके हैं। यह इस काव्य की उपयोगिता को बहुत अंशों में बढ़ा देता है।

कदाचित् प्रेम के क्षण की वास्तविकता ही इस सिद्धि का मूल है। लेकिन बिना इसके कोई कवि या कलाकार कभी अपने आप को सार्थक भी कैसे कर सकता है ? क्या युद्ध क्या तपोवन, क्या गृह और क्या उपवन प्रायः सभी स्थल सिनेमा की फिल्मों की भाँति कवि हमारे सम्मुख लाता है और हम स्थल पर केवल अवाक् से देखते ही रह जाते हैं। इतनी सरसता तथा इतनी वर्णन पटुता हमें बहुत ही कम काव्यों में देख पड़ेगी।

"हरि तरंगमय रक्त से हरित रंगमय रक्त" या "शर सम समर-समीर में सोये असुर शरीर" इत्यादिक स्थलों में काव्य चमत्कार भी कम नहीं प्रदर्शित किया गया है। मिश्रजी की इस आशातीत सफलता के लिए हम उन्हें बधाई देते है तथा राज्यकार्य में व्यस्त रहते हुए भी वे साहित्य सेवा के लिए इतना अवकाश पा सकते हैं इसका कारण केवल उनकी सच्ची लगन ही हो सकती है, इसके लिए भी वे हमारी बधाई के पात्र हैं। हमें विश्वास है कि यह काव्य साहित्य संसार में अपना समुचित आदर अवश्य प्राप्त करेगा।

—ललिताप्रसाद सुकुल
(प्रथम अध्यक्ष,हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय)

'भारतीय संस्कृति' पर

अपने विषय के पथ-प्रदर्शक इस 'भारतीय संस्कृति' नामक ग्रन्थ के लेखक डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्० ने यह भूमिका लिखने का निवेदन करके मुझे सम्मानित किया है।

मैंने इस ग्रन्थ के आखिरी प्रूफ देखे हैं और मैं ग्रन्थकर्ता के विशाल अध्ययन, गंभीर पाण्डित्य और अनुसन्धानक्षमता का पूरा समर्थन करता हूँ। उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ऐतिहासिक विहंगावलोकन दिया है। सभ्यता और संस्कृति यद्यपि एकार्थवाची नहीं हैं फिर भी दोनों के अर्थतत्त्व बहुत कुछ मिलते-जुलते भी हैं। लेखक ने संस्कृति, सभ्यता और धर्म (जिसका अर्थ बड़ा व्यापक है और जिसका अन्य भाषा में पूरा अनुवाद सम्भव नहीं है) के सम्बन्ध की जाँच की है। लेखक ने संसार की सर्वाधिक वर्तमान सभ्यता की वैदिक काल से अब तक की स्थिति के अनुसार अपने विषय का सात परिच्छेदों में विभाजन किया है। उन्होंने स्वभावतः ही वैदिक संस्कृति को प्रागैतिहासिक कहा है। उनका ऐतिहासिक काल भी वर्तमान ऐतिहासिककालीन मान्यता के बहुत परे जाता है क्योंकि उन्होंने रामायण और महाभारत के काल को भी ऐतिहासिक ही माना है। आधुनिक इतिहासकार विशेषतः पाश्चात्य सज्जन भले ही इससे सहमत न हों परन्तु भारतीय विचारधारा हाल हाल में इन दोनों महाकाव्यों को ऐतिहासिक मानने के पक्ष में हो रही है। वह जो हो, परन्तु यह तो निश्चित ही है कि वे ग्रंथ भारतीय संस्कृति के इतिहास में विशिष्ट सीमारेखाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। बुद्ध और महावीर का काल तो प्रत्येक दृष्टि से ऐतिहासिक है ही और लेखक ने ठीक ही कहा है कि वे संस्कृति और सभ्यता के बहुत ऊँचे स्तर का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। प्राचीन भारतीय वैदिक संस्कृति के प्रतिक्रियावादी रूप में विकसित बौद्ध और जैन दर्शनों के प्रवर्तक ये दोनों महात्मा अहिंसा और सत्य के उस उच्चतम रूप पर जोर देते हैं जिस तक संसार के अन्य देश इन लगभग ढाई हजार वर्षों में भी अभी बराबरी नहीं कर पाये हैं। ईसाइयत को कहा जा रहा है कि वह सत्य और अहिंसा के उस ऊँचे आदर्श की कुछ बराबरी कर रहा है परन्तु वह आदर्श ही रहा है जो बड़े पैमाने पर वास्तविक जीवन में आचरित नहीं हो पाया। अशोक के शिलालेखस्थ आदेश ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर के प्रथम व्यवस्थित प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके द्वारा विश्वास की स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी है। यही स्वतन्त्रता तो अन्य सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं की कुंजी है।

आचार्य काल, सन्त काल, सुधारक काल और सर्वोदय काल के अन्य परिच्छेद भारत में पिछले लगभग एक हजार वर्षों से प्रचलित धार्मिक और

सामाजिक विश्वासों के विकास का चित्रण करते हैं। ग्रन्थकार ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर पड़ने वाले मुसलिम प्रभाव की भी झाँकियाँ दी हैं तथा अंग्रेजी शासन के प्रभाव की भी चर्चा की है जिसका अवसान महात्मा गांधी द्वारा संचालित महान् क्रान्ति के रूप में हुआ।

विद्वान् लेखक ने आगे चलकर भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ बताते हुए यह दिखाया है कि वह न केवल सबसे पुरातन संस्कृति है किन्तु सबसे अधिक सहनशील भी है। अन्त में उनका कथन है कि भारतीय संस्कृति अपने तत्त्वरूप में केवल भारत की भौगोलिक सीमा में ही आबद्ध नहीं है किन्तु वह अन्तर-राष्ट्रीयता का स्वरूप लिये हुए है जो विश्वजनीन होने की क्षमता रखता है।

सांस्कृतिक विचारधाराओं के अनुसन्धित्सुओं को और भारतीय संस्कृति अपनी भौगोलिक सीमाओं के बाहर भी किस प्रकार प्रेरणाएँ देती रही है इसके जिज्ञासुओं को मैं यह पुस्तक पढ़ने की बड़ी प्रसन्नता के साथ सिफारिश करता हूँ।

नागपुर, २६ अगस्त १९५२ **भुवनेश्वर प्रसाद सिंह**
(सर्वोच्च न्यायाधीश, भारत देश)

'साकेत सन्त' समीक्षा

आलोचना और कविता दो भिन्न क्षेत्रों की उपज हैं। एक में मस्तिष्क की विश्लेषक शक्ति कार्य करती है, दूसरे में हृदय का संश्लेषक गुण। जिन विद्वानों में इन दोनों का सामंजस्य विद्यमान हो उनकी पावन संस्कृत अवस्था निःसन्देह प्रशंसनीय है। 'साकेत सन्त' का रचयिता ऐसे ही विरल विज्ञों की श्रेणी में है, जो अपनी सहृदयता और निर्मल बुद्धि के द्वारा विश्व में वन्दनीय पद प्राप्त किया करते हैं।

विद्वद्वर मिश्रजी ने 'तुलसी दर्शन' के समान एक उच्चकोटि का आलोचनात्मक ग्रन्थ हिन्दी जगत् को प्रदान किया। और अब 'साकेत सन्त' के रूप में एक महाकाव्य की भेंट उन्होंने हिन्दी संसार को दी है। यह महाकाव्य अपने कई गुणों के कारण साहित्यिक जगत् में प्रख्याति प्राप्त करेगा और अमर रहेगा।

संस्कृत महाकाव्यों के सभी लक्षणों का समावेश और निर्वाह 'साकेत सन्त' में हुआ है। इसका नायक धीरोदात्त है, राजकुल से सम्बन्ध रखने वाला है और प्रजा के लिए आदर्श है। सम्पूर्ण काव्य चतुर्दश सर्गों में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन है और इसी परिवर्तित छन्द में आगामी

सर्ग का कथानक अग्रसर होता है। महाकाव्यों के लक्षणों के अनुसार बीच-बीच में पर्वत, सरिता, ग्रीष्म, कानन, आदि प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम चित्रण है। चतुर्दश सर्ग में अष्ट यामों की चर्या गीतों में वर्णित हुई है। सम्पूर्ण काव्य भावश्री एवं कल्पना-वैभव से ओतप्रोत है।

'साकेत सन्त' सेवाग्राम के सन्त महात्मा गांधी को समर्पित किया गया है। महात्मा जी हिन्दी भाषा के हिन्दुस्तानी रूप को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। 'साकेत सन्त' कुछ सीमाओं के अन्तर्गत भाषा के इसी रूप का समर्थन करता है। उसमें अरबी और फारसी के अनेक शब्द तत्सम रूप में बिना संकोच के व्यवहृत हुए हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

"इस एक शब्द में **हजारों** रस रीतियाँ हैं।" "मैंने दो वर ले लिये भूप से **खासे**।" "किस मुँह से माँगू क्षमा **सफाई** क्या दूँ ?" इसी प्रकार बाजी, आखिर शान, बाकी, उफ, रुख, सवाल, मतलब, हर आदि अनेक शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग हुआ है, यद्यपि ये शब्द अप्रचलित एवं दुर्बोध नहीं हैं। शब्द ही नहीं, उर्दू के ढंग पर छन्दों और तुकों का भी प्रयोग किया गया है। उर्दू की बहर के तरह के छन्द कई सर्गों में हैं। तुक के निर्वाह में मिश्रजी ने काफी लाइ-सेन्स रखा है। भरतजी, भवन की; सीं वे, जी के; चलता, देखा; थाम के, राम से; तुरही, नयी; कहा, बदला; सा, था; आदि के समान तुकान्त हिन्दी वालों को नवीन प्रतीत होंगे पर उर्दू वालों के लिए वे अन्यन्त परिचित हैं। ब्रजभाषा के मार्दवयुक्त शब्दों को भी मिश्रजी ने 'साकेत सन्त' में स्थान दिया है, जैसे लखन, सुवन, विलोकना, लखना, उनने, रुच गये, भानी, पंछी, दौ, पयान, पहुनाई, गहो इत्यादि। इस प्रकार 'साकेत सन्त' को साधारण जनसमुदाय के समझने योग्य बनाने में पर्याप्त प्रयत्न किया गया है, यद्यपि सृति, वयस्य जैसे भी कुछ शब्द उसमें आ गये हैं, जो संस्कृत के विद्यार्थी के लिए कठिन नहीं हैं। मिश्रजी का यह प्रयत्न, आशा है, महात्मा गांधी की हिन्दी-उर्दू मिलन की आकांक्षा पूर्ति में अनुपम सहायक सिद्ध होगा।

'साकेत सन्त' के कथानक में दो स्थानों पर नवीनता है। प्रायः सभी कवि लक्ष्मण के उग्र चरित्र के कारण चित्रकूट के समीप भरत के ससैन्य पहुँचने पर लक्ष्मण के वीर दर्प, क्रोध एवं आक्रोश का चित्रण करते रहे हैं। इससे कम से कम एक बात अवश्य ध्वनित होती रही है कि लक्ष्मण भरत के सन्तोचित स्वभाव पर सन्देह करते थे। 'साकेत सन्त' का रचयिता इस सन्देह को कब सहन कर सकता था ? भरत सन्त-स्वभाव के हैं, वे राम के अनन्य भक्त हैं— इस तथ्य का परिचय लक्ष्मण को पूर्व से ही होना चाहिए। 'साकेत सन्त' के लक्ष्मण भरत के इस स्वभाव से परिचित हैं। अतः इस काव्य में उनका सन्देह और तज्जन्य आक्रोश किसी भी स्थान पर प्रकट नहीं होता।

'साकेत सन्त' में भरत का डेरा रात्रि के आ जाने पर चित्रकूट के समीप ही लग जाता है। भरत को रात्रि भर नींद नहीं आती। प्रातः बेला में भरत अपने डेरे से और भक्त के हृदय की बात जानने वाले राम अपनी चित्रकूट-कुटी से एक दूसरे की ओर चल पड़ते हैं और बीच में ही दोनों का मिलाप होता है। सीता और लक्ष्मण से भरत की भेंट इसके पश्चात् होती है। दूसरी नवीनता चित्रकूट सभा के आयोजन में है। अन्य कवियों ने भरत और राम का संवाद इसी सभा में कराया है, पर 'साकेत सन्त' का रचयिता राम और भरत को भ्रमण के बहाने प्राकृतिक दृश्यों की गोद में ले जाता है। वहीं पर राम भरत के समक्ष अपने वनगमन के उद्देश्य को प्रस्तुत करते हैं। दक्षिणावर्त को अनार्य प्रभाव से बचाकर आर्य-संस्कृति से सम्पन्न करना और उसे आर्यावर्त से जोड़कर अखण्ड भारत का निर्माण करना ही राम वनगमन का उद्देश्य है। भरत को भी इस कार्य में योग देना है, सेना द्वारा राम की सहायता करके नहीं, प्रत्युत उत्तराखण्ड को धनधान्य से सम्पन्न और शत्रुओं के भय से सुरक्षित करके। भरत इस संवाद से प्रभावित होते हैं। राम का आदेश उन्हें शिरोधार्य है। अतः राम को अयोध्या लौटाने की उनकी आकांक्षा हृदय में ही दबी पड़ी रहती है और जब सभा लगती है, तो भरत जैसे दिल मसोसकर राम की आज्ञा स्वीकार करते हुए नतमस्तक हो जाते हैं। कैकेयी पश्चिमी नाके को साधने की प्रतिज्ञा करती है, जनक पूर्वी दिशा को, राम दक्षिण की ओर जा ही रहे हैं—इस प्रकार भरत के अखण्ड भारत-निर्माण की कल्पना का प्रारम्भ होता है। महात्मा गांधी के हृदय की ध्वनि भी तो यही है।

विद्वद्वर मिश्रजी को कवि-हृदय प्राप्त हुआ है। उस पर कल्पना का पुट चढ़ाकर उन्होंने 'साकेत सन्त' को मनोहारी महाकाव्य का रूप दे दिया है। इस युग का साम्यवाद और उसका परिशोधन करने वाली गांधीवाद की धारा, भक्ति की भावना, नीति के तत्त्व आदि कई बातों का सुन्दर समन्वय 'साकेत सन्त' में हुआ है। द्वितीय सर्ग में युधाजित कहता है—"शोषण का नय तुम सीखो, पोषण अपना तब होगा।" तथा—

> क्षुद्रों की बलिवेदी पर पनपी है सदा महत्ता,
> निर्धन कुटियों को ढाकर, विकसी महलों की सत्ता।

भरत इसका उत्तर देते हैं :—

> शासक है सच्चा तापस,
> जग रक्षा तप का फल है।
> वह शक्ति शक्ति ही कैसी
> दुर्बल - बलि जिसका बल है?

तथा—

करुणा का बल अतुलित है,
क्षत्रियता जिस पर वारी।

यही तो गांधी का अहिंसावाद है और उनके राम राज्य की कल्पना सबके लिए 'सुख के दिन सुख की रातें' बना देना ही है। इसका साधन है—

सहो काँटे कि यह
उर फूल होवे,
सहो यह दुख कि
विधि अनुकूल होवे।

आदर्श राज्य की कल्पना में पाँच आवश्यकताएँ परिपूर्ण होनी चाहिए। ये पाँच बातें हैं—स्वास्थ्य, सज्ञानता, अन्न, वस्त्र और आवास। इन आवश्यकताओं की पूर्ति मानव को निर्भय बना देती है। साम्यवाद की घोषणा करता हुआ कवि इसी हेतु कहता है :—

अभय हों सभी, शक्त हों सभी
न कोई कही दुखी हों लोग।
राज्य से खुले रहें सब ओर,
अशक्तों की रक्षा के योग।
योग्यता भर सब ही श्रम करें,
और आवश्यकता भर प्राप्ति।
राज्य का हो यह ही आदर्श,
राज्य ही की हो पूर्ण समाप्ति।

भरद्वाज के आश्रम में तो संस्कृत साम्यवाद का परिपूर्ण प्रभाव विराजमान है। इस साम्यवाद के साथ कवि गांधीवाद अथवा भारतीय संस्कृति का संदेश देता हुआ कहता है :—

त्याग-भावना भरे हुए हों,
लोक संग्रही धर्म हमारे।
जीवन कर्मशील हो पर
हों ब्रह्मार्पण ही कर्म हमारे।

गांधी का सत्याग्रह और अहिंसात्मक क्रान्ति भी 'साकेत संत' में अपना अनुपम स्थान रखते हैं।

मनोरम कल्पनाओं का वैभव भरत और माण्डवी के प्रारम्भिक वार्तालाप में ओतप्रोत है। हिमालय की दृश्यावलियों को माण्डवी के निसर्ग-सुन्दर अवयवों के आगे हेय सिद्ध करते हुए भरत कहते हैं :—

कृशोदरि ! इस त्रिवली का जाल,
कहाँ लहरायेगा हिमताल।
हृदय की गौरवपूर्ण उमंग,
देख उत्तुंग शृंग हो दंग।
लता, पल्लव, पुष्पों के साथ,
निरखकर हाथ मले निज हाथ।

× × ×

तुम्हारा लखकर केश-कलाप,
अचल उर पर लोटेंगे साँप।
घिरेंगे घन समीप घन दूर,
नचाकर शत शत मत्त मयूर।

संगम का वर्णन करने में भी कवि की कल्पना सवाक् हो उठी है। पुरुष और स्त्री तत्त्वों की मीमांसा करता हुआ कवि कहता है :—

पुरुष-मन में छवि का विस्तार।
नारि-मन में संकोच अपार॥
पुरुष का हो अनन्त पर चाव।
नारि का एक कान्त पर भाव॥

केकय देश से लौटकर जब भरत अवध में आ गये, तो राम वनगमन का समाचार सुनकर उनकी जो दशा हुई उसका अतीव हृदयस्पर्शी चित्र खींचता हुआ कवि कहता है :—

झंझा से काँपे धधक उठे दावा से।
क्षणभर में रुककर अचल हुए ग्रावा से॥
मस्तक पर सौ सौ गिरीं बिजलियाँ आकर।
गिर पड़े भूमि पर भरत सुचेत गँवाकर॥

भरत के संताप और आत्मग्लानि का भी कवि ने अत्यन्त मर्मवेधी वर्णन किया है। 'साकेत' के यशस्वी लेखक कविश्रेष्ठ बा० मैथिलीशरण जी गुप्त और महाकवि केशव की संवादगत विशेषताएँ 'साकेत सन्त' में भी परिलक्षित होती हैं। उसमें हृदय को स्पर्श करने की ही नहीं, झकझोर देने की भी अद्भुत शक्ति है। भरत के भावों को स्थान-स्थान पर अनुभव करके हृदय गद्गद् हो उठता है। सम्पूर्ण साकेत अपने सन्त के साथ चित्रकूट जा रहा है। उस समय का कैसा सजीव चित्र कवि ने अंकित किया है—

उषा चली सूर्य कुल गौरव की चाह भरी,
निशा चली मानो रामचन्द्र को मनाने को ।
सेन ओज सानी नेह-देह-सी चली थी आज,
देह-सी चली थी आज प्राण फेर लाने को ॥

नवम सर्ग में ऋषि भरद्वाज द्वारा भरत की सेना का आतिथ्य करने के लिए जो तपोजन्य सामग्री का संचय कराया गया है, उसकी सुख-सुविधाओं में संत भरत की प्रखर ज्योति अलिप्त ही रही । अन्य प्रसंगों में भी भरत के संत स्वभाव का निर्वाह हुआ है ।

कैकेयी का चरित्र 'साकेत' में द्रवित होकर जब से पवित्र बना है तब से हिन्दी कवियों का मानस उस हृदय-द्रव से संसिक्त होता आया है । 'साकेत संत' में भी कैकेयी चित्रकूट पहुँचकर

अपनी ऊष्मा से आप जली जाती थी ।
स्थिर थी पर फिर भी बही चली जाती थी ॥

हिन्दी-काव्य में उदित हुई यह दिशा हमारे लिए आशा की अभिनव सन्देश वाहिका है जिसको प्राप्त करके वह भारत-माता कैकेयी के स्वर में कह सकती है :—

मैं जो कुछ हूँ खो चुकी
पुनः वह पाऊँ ।

'साकेत संत' का रचयिता परिस्थितियों के अनुकूल भाव और चेष्टाओं के चित्रण करने में कुशल है । चतुर्दश सर्ग में आये हुए गीतों के अन्तर्गत उसने टेक और द्विगुणित झड़ की नवीन कलात्मकता का समावेश किया है । 'साकेत संत' सभी दृष्टियों से हिन्दी का एक श्रेष्ठ काव्य है ।

कहीं-कहीं यति-भंग दोष सम्भवतः मुद्रण की असावधानी से हो गया है, जैसे पृष्ठ २१ पर १६वें छन्द में 'न वह आलाप और न प्रलाप' में 'न' को 'और' के पूर्व आना चाहिए । इसी प्रकार पृष्ठ २२ के अंतिम छन्द में 'क्या कहूँ भैया भाभी हेतु' में 'क्या' को 'कहूँ' के पश्चात् आना चाहिए । चतुर्थ सर्ग के तीसरे छन्द में 'प्रसाद-रहित प्रासाद समाज' पंक्ति भी इस दृष्टि से कुछ खटकती है । आशा है अगले संस्करण में यह दोष दूर हो जायगा ।

'साकेत' के पश्चात् 'साकेत सन्त' का आविर्भाव इस गांधी युग में आवश्यक भी था । इसमें मानसिक कर्दम को मिटाकर हृदय को प्रोज्ज्वल रसधार से अभिसिञ्चित करने वाला यह महाकाव्य हिन्दी संसार में निस्संदेह समादृत एवं अभिनन्दनीय बनेगा । विद्वद्वर कवि-हृदय डा० बलदेवप्रसाद जी मिश्र को इस सुन्दर रचना के लिए हम भूरि भूरि बधाई देते हैं ।

—**डा० मुंशीराम शर्मा**

फरवरी १९४७ एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

'भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान'
एक समीक्षा

डा० बलदेव प्रसाद मिश्रजी, यों तो कवि, वक्ता, लेखक, विचारक एवं प्रशासक अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं और इन सभी में वे एक सफल कृती हैं; पर मेरे मन में उनके जिस रूप की अमिट छाप पड़ी है, उनका वह रामचरितमानस के व्याख्याता का रूप है। जहाँ तक मुझे सूचना है वे अपनी मौखिक व्याख्याओं से अनेक महान् व्यक्तियों जैसे हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद पर अपना प्रभाव डाल चुके हैं और मुझे उनकी मानस-पाठ-व्याख्या को सुनने का वैसा अवसर भी नहीं मिला; फिर भी उनके कतिपय भाषणों, लेखों और ग्रन्थों के आधार पर उनका यह व्याख्याता रूप अपना अलग प्रभाव डालता जान पड़ता है और प्रसाद जी की अन्य प्रसंग में कही गयी पंक्ति का उपयोग करें तो हम कह सकते हैं—है एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

डा० मिश्र का यह व्याख्याता रूप और रामचरितमानस का व्याख्याता रूप पढ़कर किसी के मन में उनके अध्ययन और ज्ञान की संकीर्ण कल्पना नहीं आनी चाहिए; क्योंकि रामचरितमानस है समग्र भारतीय संस्कृति का निचोड़; अतः उसकी व्याख्या हुई समग्र भारतीय संस्कृति की व्याख्या। और फिर भारतीय संस्कृति, स्वयं एक समस्त विश्व की समन्वित संस्कृति है, तो इस नाते यह रामचरितमानस की व्याख्या न केवल भारतीय संस्कृति की व्याख्या हुई, वरन् यह विश्व की समन्वित संस्कृति की व्याख्या हो गयी। अतः उनका मानस-व्याख्याता का रूप बड़ा ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण है।

रामचरितमानस के तात्विक व्याख्याताओं की लम्बी शृंखला में मुझे तीन सर्वश्रेष्ठ लगते हैं, जो हैं—पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० जार्ज ग्रियर्सन और डा० बलदेव प्रसाद मिश्र। इन तीनों की व्याख्याओं में शास्त्रोक्तियाँ एवं परम्परागत उक्तियाँ उतनी नहीं जितनी कि अपनी निजी प्रतिक्रियाएँ एवं मौलिक अनुभव विद्यमान हैं। मानस के कवित्व और चरित्र चित्रण पर अनेक ग्रन्थ, शोध-प्रबन्ध, टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गयीं, पर रामचन्द्र शुक्ल का तुलसीदास पढ़कर जो मार्मिक उद्घाटन गोस्वामी जी की प्रतिभा के होते हैं वे अनूठे हैं। इसी प्रकार गोस्वामी जी के महत्त्व और प्रभाव का बहुत-से देशीय और विदेशीय विद्वानों ने वर्णन किया है; पर डा० जार्ज ग्रियर्सन के 'नोट्स आन तुलसीदास', 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' में जो अभिव्यक्तियाँ हैं, वे स्मरणीय हैं और गहरे प्रमाण के रूप में प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार रामचरितमानस की सांस्कृतिक व्याख्या में डा० बलदेव प्रसाद

मिश्रजी का कृतित्व अद्वितीय है और इसी चर्चा के प्रसंग में मैं कुछ शब्द उनकी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान' पर कहूँगा। यह पुस्तक उनके चार भाषणों का संकलन है जो नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुई है।

इस प्रसंग से सम्बन्धित उनकी दो पुस्तकों—'तुलसी दर्शन' एवं 'मानस माधुरी'—का भी उल्लेख कर देना अभीष्ट है। 'तुलसी दर्शन' में प्रथम बार गोस्वामी जी के सिद्धान्तों का मौलिक एवं स्वतन्त्र स्वरूप स्पष्ट किया गया है। वैसे उनके दार्शनिक विचार-विवेचन में विद्वानों ने उनमें विभिन्न भक्ति दर्शनों का समन्वय ही देखा है; पर तुलसी का दर्शन अपनी अलग स्वतन्त्र सत्ता रखता है, यह बात इस ग्रन्थ में प्रस्थापित की गयी है। और इस प्रकार गोस्वामी जी की मौलिक विचारधारा को स्पष्ट करने का मिश्रजी का प्रयास अभिनन्दनीय है।

'मानस माधुरी' डा० वलदेव प्रसाद मिश्र के भारत-सेवक-समाज-प्रशिक्षण-शिविर में दिये गये भाषणों का संकलन है जिसमें मानस के काव्यगत माधुर्य का विश्लेषण सोदाहरण किया गया है। इसी परम्परा में नागपुर विश्वविद्यालय में किनखेडे व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गये डा० मिश्र के चार व्याख्यानों का संग्रह है जिसे विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित किया गया है। ये व्याख्यान उन्होंने दिसम्बर सन् १९५२ में दिये थे। ये व्याख्यान सम्मिलित रूप से एक शोध निबन्ध (treatise) के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इन चारों व्याख्यानों में क्रमशः 'भारतीय संस्कृति की व्याख्या', 'भारतीय संस्कृति का विकास', 'भारतीय संस्कृति के एक आदर्श एवं परिपूर्ण निदर्शन के रूप में गोस्वामी जी की रामकथा' तथा 'भारतीय संस्कृति को गोस्वामी जी का अन्य योगदान' विषयों की विवेचना की गयी है। इन विवेचनाओं में वैचारिक स्पष्टता एवं मौलिकता प्रकट हुई है।

प्रथम व्याख्यान में 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ स्पष्ट किया गया है और इसमें उन्होंने संस्कृति एवं सभ्यता पर प्राप्त पाश्चात्य और भारतीय विचारों का विवेचन किया है। इस विवेचन के उपरान्त उनका निष्कर्ष है कि जन-कल्याण के हेतु सँवारी हुई मानवी अन्तर्वृत्ति को संस्कृति कहा जाता है। यहाँ पर एक आपत्ति हो सकती है कि अन्तर्वृत्ति मात्र संस्कृति कैसे हो सकती है ? संस्कृति तो अन्तर्वृत्ति के रूप में उतनी नहीं जानी जाती जितनी मानवी सद्‌गुणों एवं सत्कर्मों के रूप में। अतः संस्कृति को सद्‌गुणों एवं सत्कर्मों के रूप में देखना चाहिए। परन्तु सद्‌गुण या सत्कर्म कभी-कभी बनावटी और दिखावे के लिए भी हो सकते हैं, इसलिए उनसे बचने के लिए अन्तर्वृत्ति को सँवारने का महत्त्व अधिक है। इसी व्याख्यान में डा० मिश्र ने संस्कृति के साथ मानवता, धार्मिकता, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता के साधर्म्य एवं वैधर्म्य की संक्षिप्त विवेचना की

है जो बड़ी रोचक है। संस्कृति ही मानव जीवन का वैशिष्ट्य है अतः मानवेतर जीवों से मनुष्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :—

"मानवेतर जीवन प्रकृति द्वारा परिचालित होता है इसलिए उनमें तो प्रकृति ही प्रकृति का खेल है। वहाँ संस्कृति या विकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य ही का ऐसा समाज है जिसमें संस्कृति के दर्शन हो सकते हैं। यदि वह कोई कृति है तो समझिए कि वह नरनिर्मित अन्तःशोधन की कला है जिसकी साधना जन-कल्याण के लिए की जाती है।" (पृ० १६)

भारतीय संस्कृति समन्वित संस्कृति है जो आर्य, द्रविड़, मंगोल, इसलामी, ईसाई और कम्यूनिस्ट संस्कृतियों की विशेषताओं को लेकर आज भी हमारे सामने है। अतः वह केवल एक राष्ट्र विशेष के लिए उपयोगी न होकर समग्र विश्व के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग में उनका कथन बड़ा ही तत्त्वपूर्ण है :—

"भारतीय संस्कृति आज दिन भी एकदम राष्ट्रीय संस्कृति नहीं है। वह अन्तरराष्ट्रीय कही जा सकती है। अतिराष्ट्रीय तो वह निश्चय ही है। इसीलिए उसके दर्शन आज हमें न केवल नेपाल, लंका आदि के देशों में किन्तु पाकिस्तान आदि के स्थलों में भी बड़े मजे से हो सकते हैं। तिब्बत, ब्रह्मदेश, थाईलैण्ड, इण्डोचाइना, इण्डोनेशिया आदि में भी कभी उसका बोलबाला था। यही क्यों, एशिया, यूरोप और अफ्रीका के प्रायः सभी देशों में और सुदूर अमेरिका तक उसका संदेश किसी जमाने में पहुँच चुका है और आज भी पहुँच रहा है। विश्व कल्याण के लिए यह संस्कृति पहले भी आवश्यक थी, आज भी आवश्यक है।"

उपर्युक्त कथन की प्रभूत रूप में पुष्टि आधुनिक विश्व को सह अस्तित्व एवं पंचशील का संदेश देकर भारतीय संस्कृति कर रही है। कट्टर कम्यूनिज्म को एक सहनशील मोड़ देने में तथा विश्व के दो गुटों के बीच मानवता के विध्वंसक युद्ध को रोकने में भारतीय संस्कृति के कार्य सफल हुए हैं। साथ ही अत्याचार और अन्याय के विरोध में सैनिक कार्यवाही भी उसे अमान्य नहीं है, यह भी स्पष्ट है।

भारतीय संस्कृति के सिंहावलोकन के प्रसंग में भारत के सांस्कृतिक समन्वय का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें इस बात की पुष्टि है कि भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत प्रत्येक युग में समन्वय का कार्य होता रहा जिससे इसमें लगभग समस्त सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियों के स्वस्थ एवं उदात्त तत्त्वों को ग्रहण किया जाता रहा। इस समन्वय के कारण जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही पक्षों के विकास का ध्यान रखा जाता रहा। इसके परिणाम स्वरूप ही हमारे देश में विष्णु, शंकर, शक्ति, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि सभी की उपासना करने वाले समूहों का विकास हुआ और आज भी इनके अतिरिक्त मुहम्मद और ईसा के मतावलम्बियों को भी अपनी संस्कृति

के विकास और प्रचार की पूरी स्वतन्त्रता है । यद्यपि ये संस्कृतियाँ अधिकतर धार्मिक कट्टरता से युक्त रहीं, फिर भी जिसे हम समन्वित भारतीय संस्कृति कह सकते हैं उसमें सभी के उत्तम तत्त्व समाविष्ट हैं । डा० मिश्र ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को पंचसकार के रूप में व्यक्त किया है (पंचमकार नहीं) । ये पंचसकार हैं—सनातनता, सतत प्रवाह, सात्विकता या सहनशीलता, समन्वयात्मकता या सर्वग्रहता एवं सर्वांगीणता । इन विशेषताओं के कारण यह एक व्यापक संस्कृति है संकीर्ण नहीं ।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत गोस्वामी जी का प्रमुख योगदान रामकथा के रूप में है जिसको उन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ रामचरितमानस में कहा है । यह कथा यद्यपि बड़ी प्राचीन है और इसका मुख्य रूप वाल्मीकि की रामकथा है; फिर भी बौद्ध, जैन तथा संस्कृत एवं अन्य भारतीय तथा विदेशीय भाषाओं के काव्यों और नाटकों में रामकथा के विविध रूप मिलते हैं। अतः गोस्वामीजी ने वाल्मीकि की रामकथा को मुख्य रूप से ग्रहण करते हुए उसको इस रूप में प्रस्तुत किया है जिससे कि उसके अन्तर्गत अनेक स्थलों पर आये हुए दोषों का मार्जन हो जाय और रामकथा भारतीय एवं विश्व जीवन के लिए एक अनन्त प्रेरणा का स्रोत बन सके । इस दिशा में डा० मिश्र द्वारा प्रस्तुत अपने व्याख्यान में वाल्मीकीय रामायण एवं तुलसीकृत रामचरितमानस के तुलना के प्रसंग बड़े ही रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं (पृ० ५१-५६) । इनको पढ़कर यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या आदि के चरित्रों का मार्जन किस प्रकार किया । इस प्रकार एक परिमार्जित रूप में ऐतिहासिक रामकथा को प्रस्तुत करके उसमें मानव जाति के आचार-व्यवहार की अखिल सम्भावनाओं की परिकल्पना निहित की और यह भी स्पष्ट कर दिया कि कौनसा आचार वरेण्य है ।

इस कथा के साथ ही साथ गोस्वामी जी ने भारतीय संस्कृति को जो दूसरी वस्तु दी वह है राम का व्यक्तित्व । राम के व्यक्तित्व में मानव विकास की पराकाष्ठा निहित है । उसका एक रूप मर्यादा पुरुषोत्तम का है और दूसरा रूप परब्रह्म या इष्टदेव का । उसका एक पक्ष हमें शील, त्याग, कर्तव्यपालन की कर्मठता की प्रेरणा देता है और दूसरा असीम शक्ति । इसलिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में राम समाये हुए प्रस्तुत किये गये हैं । उनके परिपूर्ण व्यक्तित्व में सौन्दर्य, शील और शक्ति का समन्वय है ।

गोस्वामी जी ने भारतीय संस्कृति को जो तीसरी वस्तु दी वह है रामभक्ति का पथ । इस पथ का सूत्र है—"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक ।" दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि यह भक्ति पथ हमारा जीवन दर्शन (Philosophy of Life) बन गया है । यह जीवन दर्शन हरिभक्तिपथ का

है। तुलसी स्वयं रामभक्त होते हुए सबके लिए हरिभक्तिपथ को ही प्रशस्त करते हैं जो भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। यह भक्तिपथ अपने-अपने आराध्य को लेकर चल सकता है; पर उसमें ज्ञान और वैराग्य की विशेषता होनी चाहिए। यह हरिभक्तिपथ इसी जीवन का धर्म है। इसका सम्बन्ध स्वर्ग, परलोक या मोक्ष से नहीं। विनय पत्रिका में उन्होंने कहा ही है :—

तप सेवा उपवास दान मख जो जेहि रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिये करम फल भरि-भरि वेद परोसो।
बहु मुनि मत बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो।

अतः भक्तिमार्ग राजमार्ग है, कोई औघट या परोक्ष मार्ग नहीं।

गोस्वामी जी की भारतीय संस्कृति के लिए चौथी देन उनके व्यवहार-विषयक दृष्टिकोण में देखी जा सकती है, ऐसा डा० मिश्रजी का मत है। इस व्यवहार-विषयक दृष्टिकोण में उन्होंने साधुमत और लोकमत दोनों ही का समन्वय किया है। साधुमत में उन्होंने प्रभु प्रेम, सत्संग एवं नाम जप प्रमुख रूप से माने है और लोकमत में सत्य, प्रेम, अहिंसा और परोपकार प्रधान हैं। ये ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक धर्म के स्वरूप हैं। इन दोनों को स्पष्ट करने वाले अनेक तत्त्व गोस्वामी जी की रचनाओं में सूक्ति रत्नों के रूप में मिलते है जिनके कतिपय उदाहरण मिश्रजी ने अपने व्याख्यान में दिये हैं—यहाँ उन्हें देने की आवश्यकता नहीं।

गोस्वामी जी की एक अन्य देन उनके साहित्यादर्श के रूप में देखी जा सकती है। इसके मुख्य तत्त्व निम्नांकित सूक्तों में स्पष्ट हो जाते हैं :—

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो स्रम बादि बालकवि करहीं॥

आदि। गोस्वामी जी का यह साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक और सामाजिक है जिसके स्वान्तः सुख में समाज सुख समाविष्ट है।

गोस्वामी जी की सांस्कृतिक देन के रूप में जो उपर्युक्त बातें व्याख्यानों में स्पष्ट हैं वे भारतीय संस्कृति के माध्यम से गोस्वामी जी की विश्व संस्कृति के प्रति देन को स्पष्ट करने वाली हैं। जिस प्रकार गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ रामचरितमानस में भारतीय संस्कृति की अत्यन्त समुज्ज्वल, सुस्पष्ट एवं आदर्श

व्याख्या प्रस्तुत की है और उसकी समस्त विशेषताओं को संक्षेप में समेट लिया है, उसी प्रकार डा० बलदेव प्रसाद मिश्रजी ने इन चार व्याख्यानों में, जो पुस्तक के ८७ पृष्ठों में समाप्त हैं, गोस्वामी तुलसीदास के कृतित्व और उसके संदर्भ में भारतीय संस्कृति की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी यह व्याख्या ज्ञान-अनुभव-गर्भ एवं सार-सम्पन्न है। मुझे इस बात का खेद है कि उनकी यह पुस्तक लोगों को प्रायः ज्ञात नहीं है, पर यह उनकी महत्त्वपूर्ण देन है और इसका अधिक प्रसार होना चाहिए। इसके माध्यम से ही हम भारतीय संस्कृति, तुलसीदास एवं स्वयं डाक्टर मिश्र को अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं। इस कृति के लिए हम सभी उनके ऋणी हैं।

—**भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय**

'रामराज्य' की समीक्षा

जीवन और राजनीति

साहित्यकार जीवन को गतिशील बनाने का अखण्ड संकल्प लिये हुए साहित्य निर्माण के अपने पथ पर अग्रसर होता रहता है। डा० मिश्र के लिए यह सिद्धान्त अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ है। 'रामराज्य' के प्रथम सर्ग की प्रथम पंक्ति ही 'चरैवेति' के 'प्रगतिमन्त्र' का उद्घोष करती है। जीवन की यह गतिशीलता जीवन-साधक के पग-पग के लिए सफलता के पाँवड़े बिछाती चलती है। इसका जादू धरती को 'कामदुघा' और 'सम्पन्न' बना देता है। गतिशील जीवन में वाणी और कर्म का अद्वैत स्थापित हो जाता है और इस पथ पर चलने वाला 'धर्मरथी' विश्व के लिए आदर्श के प्रकाश का शाश्वत केन्द्र बन जाता है। डा० मिश्र ने इन्हीं आदर्शों से मण्डित भगवान् राम के चरणों में अपनी वाणी की पुष्पाञ्जलि अर्पित की है।

संकीर्ण कृपणता के बन्धन को काटकर जब मनुष्य का हृदय त्याग की उदारता को अपना स्वभाव बना लेता है तब उसकी गतिशीलता की सीमा अनन्त हो जाती है। इसी दृष्टिकोण से डा० मिश्र ने 'रामराज्य' के प्रथम सर्ग में कहा है कि विश्व में प्रगतिशीलता की अन्तिम सीमा तक कोई कभी न पहुँच सका तथापि विराट् नियति प्रगतिशील मनुष्य को अग्रसर होने के लिए मार्ग दे ही देती है।

मर्यादा पुरुषोत्तम के युग में भारत का दक्षिणाञ्जल रावण की स्वार्थ और भोगप्रधान राक्षसी संस्कृति की संकीर्णता से आच्छन्न हो रहा था। वहाँ के तपःपूत आश्रम इस भोगवादी आसुर संस्कार के तमोगुणी भीषण आक्रमणों से

त्रस्त हो चुके थे। इन आक्रमणों की सीमा विन्ध्य के उत्तर के प्रदेशों में हिमालय की पर्वतश्रेणियों में अवस्थित आश्रमों तक विस्तृत हो गयी थी।

इस उद्दाम तमोगुण को निगृहीत करने वाली शक्ति भगवान राम की प्रशान्त सात्विक मर्यादा में ही थी। रावण के तमोगुण के अन्धकार की घटा राम के सत्व के प्रकाश की विद्युद्धारा से ही विच्छिन्न हो सकती थी। इसीलिए दक्षिण दिशा को दाक्षिण्य-सम्पन्न बनाने के लिए डा० मिश्र ने अपने राम को प्रगति पथ पर अग्रसर किया है। मोहाकुल रावण की अन्धकारमयी सभ्यता पर मोहातीत राम के शील का आलोक विकीर्ण होते हुए डा० मिश्र ने देखा है।

अपने जीवन में मानव नियति पर बड़ी प्रबल आस्था रखता है। वह अपने को नियति का खिलौना मानता है। सर्वसाधारण की इस आस्था को स्वीकार करते हुए भी डा० मिश्र ने 'रामराज्य' में मानव को आदिशक्ति नियति का 'प्रियसुत' माना है। संसार का कण-कण और क्षण-क्षण, देश और काल की सीमा का विस्तार निर्मित करते हुए नियति के नियमों पर ही, डा० मिश्र के अनुसार, आश्रित रहता है। परन्तु उन्होंने मानव को अन्ततः नियति परतन्त्र नहीं रखा। सर्वशक्तिमान् अमर आत्मा का प्रतिरूप मानव, परतन्त्र कैसे रह सकता है। भारतीय दर्शन का यह सत्य डा० मिश्र को सहज प्राप्त है। इसीलिए उन्होंने जगदम्बा नियति पर भी उसके 'प्रियसुत' मानव की साधिकार विजय का सिद्धान्त समर्थित किया है। उन्होंने स्वतन्त्र मानव के आशावादी, भव्य रूप की अवतारणा की है। उनके अनुसार मानव अपने धर्मविहित कर्म का स्वयं नियामक है। कर्म नियमन में स्वतन्त्र रहकर भी मर्यादा पुरुषोत्तम मानव कर्मफल से आसक्त नहीं होता। विश्वमंगल विधायक मर्यादा पुरुषोत्तम अपने कर्तव्य कर्मों का फल विश्व को, विश्वरूपी भगवान को अथवा 'जगन्नियामक' को अर्पित कर देता है। भाग्य के भरोसे न बैठकर वह 'महान मनुज' सक्रिय रहता है। कर्तव्य के पथ पर अग्रसर होता हुआ वह परिणाम की चिन्ता नहीं करता। मानव के इसी स्वस्थ शील को विश्वमंगल विधान की प्रक्रिया में डा० मिश्र ने उपयोगी माना है।

'रामराज्य' के लेखक ने अपने राम के शील में त्याग को प्रधान स्थान दिया है। 'रामराज्य' के राम इस बात को कभी नहीं भूलते कि जीवन त्याग में ही विकसित होता है, भोग में नहीं। वे तप-इच्छुक हैं; इसीलिए वे काननवास को अपने लिए माता-पिता से प्राप्त वरदान के समान सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

'रामराज्य' के राम अपने पिता दशरथ के सत्य और लोकसेवा-व्रत के प्रतिरूप हैं। सक्रियता और उत्साह से उनके जीवन का प्रतिपल परिपूर्ण है। वहाँ के लक्ष्मण अखण्ड सेवाव्रती हैं। भरत के 'गुणगण' गिने ही नहीं जा

सकते । 'रामराज्य' की सीता रामभानु की प्रभा के समान सुख-दुख में उनके संग लगी रहने को कृतसंकल्प है। भय और संकट उसे विचलित नहीं कर सकते । वह बड़ों से यही 'सदाशीर्वाद' चाहती है कि संकटों को सुख से झेलती हुई 'प्रभुसेवा-रत' रहकर सारी बलाएँ अपने सिर पर ले ले ।

वन्य जीवन में 'सुदृढ़ शील का कवच' सीता का सतत रक्षक था तथा 'सुदृढ़ आत्मबल' उसके शील में नयी-नयी स्फूर्ति का उन्मेष उत्पन्न करता था । वन में और अपने समग्र जीवन में वह केवल 'राजवधू ही नहीं' अपितु दुर्गा और क्षत्राणी भी है। वह केवल वज्रादपि कठोर ही नहीं, अपितु जगकल्याणी सुविनम्रा कुसुमादपि कोमल भी है ।

'रामराज्य' के राम का सीता-वियोग उनके हृदय को उदार बना देता है । उदारता की उस सहृदयता में 'विश्वभर का प्यार' उदित हो उठता है। वह हृदय जड़-चेतन सबको अपना लेता है। राजरानी सीता का वियोग राम के हृदय में उस पावन उदारता को जन्म देता है जिसमें शबरी को भी प्रेमाभक्ति की शीतल छाया में विश्राम प्राप्त हो जाता है ।

'रामराज्य' के हनूमान 'अद्भुत शक्ति केन्द्र' और 'मतिमान' हैं; पर 'छल-बलमय रणकौशल' से वे अपरिचित हैं । वहाँ की मन्दोदरी 'सरलहृदया, भावुक, तत्त्वदर्शिनी और दान्त' है । लक्ष्मण को मेघनाद की शक्ति लग जाने पर 'राम-राज्य' के राम के प्राण व्याकुल हो उठते हैं और उनकी व्यथा हृदय को चीर-कर करुण विलाप के रूप में प्रकट हो जाती है ।

आर्य चेतना 'मरणान्तानि वैराणि' का सिद्धान्त अनुभवगम्य बनाये रखती है । इसीलिए मरणोत्तर काल में 'रामराज्य' का रावण, आर्य राम का बन्धु हो जाता है ।

'रामराज्य' की परगृह निवासिनी अपहृता सीता का रोष जब सन्देहाकुल लोकमत के विरुद्ध जाग पड़ता है तब उसके पातिव्रत्य की संस्तुति करने को अनल को बाध्य होना पड़ता है ।

'रामराज्य' का जीवनदर्शन जिस पवित्र हृदय-धर्म को साथ लेकर ग्रामों और नगरों के आदर्शो पर अपनी छाया प्रसारित करता हुआ अग्रसर होता है, उसी विश्वप्रेम के आधार पर 'रामराज्य' की राजनीति का विधान भी प्रस्तुत किया जाता है । वहाँ के राम नरेशों को ऋषिवर्य भरद्वाज के तपोनिष्ठ और त्यागी व्यक्तित्व के वशवर्ती होते हुए देखते हैं। 'रामराज्य' की राजनीति ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के द्वारा आयोजित राजनीति है। उसमें ज्ञान, कर्म और प्रेम की त्रिवेणी प्रवाहित होकर यशरूपी अक्षयवट के चरणों का प्रक्षालन करती हुई विश्वमंगल विधायिनी शक्ति के रूप में परम पावनी बन गयी है ।

प्रयाग के पावन तीर्थ में अखिल भारत के भावैक्य का दर्शन 'रामराज्य'

का कवि कर लेता है। कवि की वाणी में विश्वमानव के विश्वराष्ट्र के निर्माण की शक्ति 'रामराज्य' के कवि ने देखी है। उनके राम त्यागी होकर भी विश्व-भूप हैं। 'रामराज्य' के कवि के अनुसार, राजा की सत्य ख्याति के बल पर ही शासन-तंत्र चलता है और सच्चा कवि इस सत्ख्याति को गतिमय बनाकर जन-इतिहास का निर्माता बनता है। उसके अनुसार वाल्मीकि इसी प्रकार के इति-हास निर्माता बने, राम के समान जननायक को प्राप्त करके।

युगानुकूल विचारक मुनि और मतिधीर नियामक ही गंभीर क्रियाशक्ति के सहारे अर्थतन्त्र को विश्वमंगल विधान की दिशा में अग्रसर करते हैं। अत्रिमुनि से 'रामराज्य' के राम को यही मनचाहा राष्ट्रीय संकेत प्राप्त हुआ है। इसी संकेत की पवित्रता के आकर्षण से ओतप्रोत होकर राम और लक्ष्मण ने कोल, किरात और निषाद नरों को तथा सीता ने नारियों को आकर्षित किया। इसी प्रक्रिया से जन-कल्याण का विकास चित्रकूट में गतिमान बन गया।

'रामराज्य' की राजनीति में शिक्षा, हृदयों के संस्कार को विश्वाश्रय का प्रतिमान बनाने के लिए है, तथा ज्ञान और प्रेम के आलोक में नर को नारायण बना देने के लिए है।

'सम्मिलित श्रम' को रामराज्य के कवि ने 'समृद्धि का मूल' माना है। ज्ञान और विश्वप्रेम को लेकर प्रत्येक मानव के तन और मन की सामूहिक सक्रियता विश्वसमृद्धि को जन्म देती है।

'रामराज्य' के राम को साकेत के सफल सन्त भरत ने ऋषि-जीवन से राजर्षि-जीवन की ओर चित्रकूट में मोड़ दिया। रामराज्य प्रातिनिधिक शासन-तन्त्र से सुसमृद्ध होने लगा। साकेत के राजा राम अब वनों के राजा हो गये। वे साकेत का राज्य छोड़कर आये तो वनों ने उनको अपना राजा चुन लिया और वे विश्वमंगल विधायिनी राजनीति के उन्नायक के रूप में चित्रकूट से उदित हुए। उस वन के राज्य में वैराग्य मंत्री बना, विवेक ने नरेश का कार्य सम्हाला, यम-नियम योद्धा बन गये, शैलों ने नृप नगरों का काम किया तथा शुचि और सुन्दर सुमति से उत्पन्न शान्ति ने अपने सात्विक सुवेश में राजमहिषी का स्थान ग्रहण किया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थों ने अनुपम कोष का रूप धारण किया। विराट् जीवन की ओर अग्रसर यह राममय शासनतन्त्र सुराज्य और सन्तोष की दिशा में गतिशील हो गया।

'रामराज्य' के अनुसार, तन्त्र चाहे व्यक्ति का हो या संघ का, यदि वह उपर्युक्त राज्यांगों से सज्जित है तो विश्वमंगल विधायक होगा, अन्यथा उससे विश्वमंगल विनाश होगा। सत्य और अहिंसा के प्रतिगामी, नास्तिक रावण के भोगवादी राज्यतन्त्र ने विश्वमंगल का विनाश निर्मित किया था तथा त्याग और बलिदान के जीवन पर आधारित राज्यतन्त्र को लेकर राम ने रावण के

विश्वमंगल विनाशक तन्त्र का संहार किया। सत्य और अहिंसा का संकल्प लेकर राजनीति के पथ पर चलने वाले नर-वानर जगत् की सात्त्विक शक्ति के द्वारा 'रामराज्य' में असत्य और हिंसा के स्वभाव वाली आसुरी शक्ति को ध्वस्त कर देने में पूर्ण सफल हैं।

'रामराज्य' अपने सुगठित कलेवर में दर्शन, जीवनदर्शन, काव्यदर्शन, प्रकृति-सौन्दर्य तथा राजनीति का एक कोष-ग्रन्थ है।

—डा० रामनिरंजन पाण्डेय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय

'रामराज्य' के मनीषी स्रष्टा डा० बलदेव प्रसाद मिश्र हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र की उन विरली विभूतियों में से हैं जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में एक मेधावी अनुसंधाता, मर्मज्ञ समीक्षक, कर्मठ समाजसेवी, नैष्ठिक भक्त एवं संवेदनशील कवि का संयोग हुआ है।···'रामराज्य' की उद्भावना भक्ति और संस्कृति के समन्वित परिवेश में राज्यादर्श का विश्वजनीन संदेश सँभाले हुए चली है।··· 'रामराज्य' में रामचरित के माध्यम से रामराज्य के तत्वों का मार्मिक एवं जीवन्त चित्र खींचकर धरती के जन-जन में रामत्व के सनातन अवतरण को जो मङ्गलमय आह्वान किया गया है, वह सर्वथा स्मरणीय एवं अभिनन्दनीय है।

—डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय

(ग)

परिशिष्ट

१

डाक्टर साहब को प्रदत्त कतिपय मानपत्रों का संक्षिप्त विवरण

सत्ताधिकारियों और जन-नेताओं को प्राय: मानपत्र मिला ही करते हैं। साहित्यकारों को भी इस प्रकार सम्मानित करने की परम्परा भी कई स्थानों में देखी गयी है। अतएव यदि डाक्टर साहब को भी ढेरों मानपत्र मिले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके कुछ मानपत्र तो उस समय के हैं जब उन्हें डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। उस समय वे रायगढ़ में थे। राज-नाँदगाँव के सज्जनों ने उस समय भी रजत मंजूषा में भरकर मानपत्र देते हुए उनका सामूहिक और सार्वजनिक स्वागत किया था। कुछ मानपत्र उनके रायगढ़ शासन से सम्बन्धित हैं। इनमें प्रमुख दो मानपत्र हैं। एक है खरसिया के नाग-रिकों द्वारा दिया हुआ, जिसमें खरसिया के विकास के सम्बन्ध में उनके प्रति बड़ा आभार व्यक्त किया गया है और दूसरा है रजत मंजूषा में भरकर दिया हुआ रायगढ़ के नागरिकों का मानपत्र जो चक्रधर अनाथालय के उद्घाटन समारोह के अवसर पर सन् १९४४ में दिया गया था जब कि डाक्टर साहब रायगढ़ छोड़ चुके थे। कुछ मानपत्र डाक्टर साहब के जाति बन्धुओं के द्वारा दिये गये हैं। इनमें सन् १९४० में चाँदा के बन्धुओं, सन् १९४१ में विलासपुर के बन्धुओं, और सन् १९४१ में छिंदवाड़ा के बन्धुओं द्वारा दिये गये मानपत्र उल्लेखनीय हैं। कहना न होगा कि वे सन् १९४०-४१ में मध्यप्रदेशीय कान्य-कुब्ज सम्मेलन के गोंदिया अधिवेशन के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। कुछ मानपत्र उनकी सार्वजनिक सेवाओं के प्रसंग लेकर दिये गये हैं। उस सम्बन्ध में सुरही बांध योजना की सफलता के चिह्नस्वरूप गंडई इलाके वालों ने सन् १९५७ में मानपत्र दिया, गांधी उद्यान का शिलान्यास डाक्टर साहब के हाथों सम्पन्न कराकर कांकेर वालों ने सन् १९५५ में मानपत्र दिया, मोहलई वालों ने पाठ-शाला का शिलान्यास कराकर उन्हें सन् १९५८ में मानपत्र दिया, इत्यादि इत्यादि। विशेष मानपत्र तो उनकी साहित्यिक साधनाओं के सम्बन्ध में ही मिले हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं साहित्यप्रेमी समाज, इटावा, यू. पी., सन् १९४५; हिन्दी साहित्य समिति, बुरहानपुर, सन् १९४६; साहित्य समिति तथा अन्य समितियाँ, धमदा, सन् १९५२; हिन्दी साहित्य समिति एवं अन्य संस्थाएँ, मुलताई,

सन् १९५५; साहित्य समिति कांकेर, सन् १९५५; हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा महाविद्यालय, पन्ना, सन् १९५८; संस्कृत परिषद, रायपुर, सन् १९६०; तथा वार्षिकोत्सव समारोह के अवसर पर राजनाँदगाँव के नागरिकों द्वारा रजत मंजूषा में सर्मपित मानपत्र सन् १९६२।

कुछ मानपत्र संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू के पद्यों में भी हैं। नमूने के ढंग पर दो चार पद्य यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

श्रीमान् धर्मधुरीण पूत चरितः प्रोद्भासमानाकृति-
विद्वान् विज्ञजनाश्रयो नयधृतिः प्रज्ञानिधि धैर्यवान्
सीप्यां रायगढ़ाभिधे सुनगरे साहित्यसर्वांशविद्
वाग्मी श्री बलदेव मिश्र सचिवः संराजते साम्प्रतम् ॥

(श्री विद्याधर शास्त्री, काशी)

श्री चक्रभृद्भूपति मान्य मन्त्रि-
र्यायि प्रसिद्धो द्विज देव भक्तः।
सुपुत्र दारार्थ सुखा न्युपेयात्
भक्तिप्रियः श्री बलदेव मिश्रः ॥

(श्री शिवनारायण शर्मा, चर्खी दादरी, हरियाना)

× × ×

कामपालः प्रजापालं, विद्वद्वन्द्यस्तमेवहि
बलदेवः सदा कुर्यात्, बलदेवं सुखान्वितम्।

× × ×

मुख्ये वां राज्येऽमराराध्य राध।
ख्यान्तु प्रेथस्तेऽमराजन्तु भाव।
मानै रागत्याऽ मला चन्द्य लील।
त्यज्यान्नोढेयं मताऽक्रम्य मोदे।
श्री नित्यं शन्देमही धर्म हाव।
मिथ्यानो श्रीष्टा मखाऽऽ रत्य विप्र।
श्राव्यासम्मह्या मया सिंह वासा।
भिन्द्याद्दौहार्द्यं महा हर्म्यं मोद।

(श्री चित्रकवि)

[नोट—यह कमलबन्ध नामक चित्रकाव्य है। प्रत्येक पंक्ति के मध्य में 'म'

अक्षर है। प्रत्येक पंक्ति के आदि अक्षर और तदनन्तर अन्त के अक्षरों को पढ़ने से पद बनता है "मुख्यामात्य श्री मिश्राभिध बलदेव प्रसाद।" इसी प्रकार प्रत्येक पंक्ति के चतुर्थ और अष्टम अक्षरों को क्रमपूर्वक पढ़ने से पद बनता है—"रायगढ़ेश श्री महाराज चक्रधर सिंह।" कवि का अभिप्राय कवि ने ही इस पूरे पद्य का अर्थ समझाते हुए लिखा है कि "मध्ये राज्ञो नाम परितो मंत्रिणो नाम अस्याशयस्तु एतन् मंत्रिणा परितः श्री महाराजो रक्षितो भूयात्। यह ३-९-१९३९ की रचना है।]

× × ×

वाणी के प्यारे लाल, तुम्हारा स्वागत।
मानस के मंजु मराल, तुम्हारा स्वागत॥
निर्भीक-समीक्षा-मुसल-बुद्धि-हलधारी।
नित-नूतन-वाङ्मय-वृन्दा-विपिन-विहारी॥
रख दो हम पर निज वरद-हस्त सुखकारी।
बल दो हमको बलदेव अविद्या-हारी॥
अज्ञान-कलुष के काल, तुम्हारा स्वागत।
मानस के मंजु मराल तुम्हारा स्वागत॥

(जांजगीर १६-९-४५)

× × ×

अकथ कहानी यह साँची हू भई सी जात, पोखरीन माँहि यों मराल आज छाये हैं।
संबुक सेवार भरे, हीन जल तालन में, कैसे बिसराम लेन कौन धों पठाये हैं॥
कोकिल चकोर, कीर काक बक आदिक, अनेक रंग बिहंग विलोकननि धाये हैं।
जागे भाग, कानन सुनाई परी, नगर हमारे उड़ि मानस के राजहंस आये हैं॥

(छिंदवाड़ा संवत् १९९८ वि.)

× × ×

होवें आप चिरायु, कीर्ति बढ़ती जावे सदा आपकी।
होवे गेह सुखी त्वदीय, न कमी होवे किसी बात की॥
सत्पुत्रादिक दीपवत् भवन को सद्दीप्तकारी बनें।
आभारी फिर आपके सब तथा आदेशकारी बनें॥

(धमतरी सन् १९४०)

× × ×

जन्मभूमि यह, कर्मभूमि वह, दोनों ही को श्रेय मिला।
फला रायगढ़ में वह तरु जो, नाँदगाँव में कभी खिला॥

पर विभूतियाँ आप सरीखी, यहाँ वहाँ की कहाँ रहीं।
वे सबकी हैं, सब उनके हैं, वे खुद चाहे जहाँ रहीं॥

× × ×

हम न आपको अपने ही में सीमित करना चाह रहे।
यों न महत् को क्षुद्र बनाने की हम सबको डाह रहे॥
चाहे जहाँ रहें, पर हरदम, आप सुयश निज फैलावें।
हम हैं सदा आपके, चाहे आप विश्व के कहलावें॥

(राजनाँदगाँव के नागरिक, सन् १६३६-४०)

२

शुभकामनाएँ एवं सद्भावनाएँ

डाक्टर साहब के ६५वें वर्षोत्सव पर आयोजन की शीघ्रता और समयाभाव के कारण शुभ सन्देशों का पूरा संग्रह नहीं किया जा सका। फिर भी स्वेच्छा से प्रेषित जो तार तथा पत्र आये उनकी संख्या भी लगभग १२५ तक पहुँच गयी।

स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त जिला भारत सेवक समाज दुर्ग, शिक्षक संघ दुर्ग, हिन्दी साहित्य समिति दुर्ग, पत्रकार संघ बेमेतरा, दुर्गा महाविद्यालय रायपुर, हिन्दी पत्रकार संघ रायगढ़, साहित्य परिषद् जगदलपुर, भारत सेवक समाज रतलाम, हिन्दी प्रचार सभा गुलबर्गा मैसूर, गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अहमदाबाद, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, विदर्भ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति नागपुर, मोहन मन्दिर वृन्दावन एवं बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता के अधिकारियों द्वारा शुभकामनाएँ प्राप्त हुई। बिलासपुर के वयोवृद्ध लोकसेवी डा० शिवदुलारे मिश्र तथा पं० सरयूप्रसाद तिवारी 'मधुकर' एवं श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र, जगदलपुर की सौ० 'किरण' सक्सेना एम० ए० साहित्यरत्न, चाँपा निराला साहित्य मण्डल के प्रतिनिधि रूप गौरीशंकर श्रीवास्तव 'पथिक', बोड़े गाँव दुर्ग के श्री उदयप्रसाद जी 'उदय' एवं स्थानीय कवियों तथा कवयित्रियों में श्रीमती तिवारी, कुमारी सावित्री बांगेरा, डा० नन्दूलाल जी चोटिया एवं श्री वीरभद्रजी झा शास्त्री ने पद्यों में अपनी शुभकामनाएँ भेजीं।

जिन अन्य महानुभावों ने अपनी शुभ कामनाएँ भेजीं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त नई दिल्ली :

डा० बलदेव प्रसाद मिश्रजी के अभिनन्दन समारोह में मैं आपके साथ हूँ। इस अवसर पर मैं उन्हें बधाई देता हूँ और उनका अभिनन्दन तथा अभिवन्दन करता हूँ।

२. परम सम्मान्य श्री हरि विनायक पाटस्कर साहब, राज्यपाल, मध्यप्रदेश :

डा० साहब के दीर्घ और सुखी जीवन की हृदय से शुभकामना करता हूँ। वे साहित्य और राष्ट्र की सेवा अनवरत करते रहें।

३. श्री पद्मभूषण डा० गोविन्ददास जी, डी० एल०, एम० पी० :

डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र मेरे मित्र हैं। उन्होंने अपनी साहित्य साधना से प्रदेश में हिन्दी को मुखरित किया है। वे स्वस्थ और सुखी रहें तथा दीर्घ-जीवी होवें यही भगवान से प्रार्थना है।

४. श्री जी० डी० खण्डेलवाल, जनरल मैनेजर, दक्षिण-पूरबी रेलवे, कलकत्ता :

समारोह की सफलता के लिए शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

५. सन्त साहित्य के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी, बलिया :

मिश्रजी हमारे साहित्य समाज की अनुपम विभूति हैं और मैं उनके चिरंजीवी होने की हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ।

६. डा० हरिवंशराय 'बच्चन', नई दिल्ली :

मेरा भी सादर प्रणाम उनको पहुँचायें। उनके अभिनन्दन को और अधिक सक्रिय रूप देने की आवश्यकता है।

७. श्री जगमोहनदास, स्वायत्त शासन मन्त्री, मध्य प्रदेश :

साहित्य के क्षेत्र में श्री मिश्रजी की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। इस शुभ अवसर पर मैं अपनी शुभकामनाएँ डा० मिश्रजी के सुखी और दीर्घजीवी होने हेतु प्रेषित कर रहा हूँ।

८. श्री मथुरा प्रसाद दुबे, लोक स्वास्थ्य मन्त्री, मध्य प्रदेश :

डाक्टर साहब ने साहित्य की वर्षों सेवा की है। उनकी रचनाओं को भी अखिल भारतवर्षीय ख्याति प्राप्त है, तथा पुरस्कार भी मिले हैं। मेरी ओर से इस अवसर पर बधाई।

९. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघ चालक, सम्मान्य श्री मा० स० गोलवलकर (गुरुजी), नागपुर :

आप सब महानुभाव अपनी श्रद्धा के साथ सद्भाव उन्हें समर्पित करेंगे उनमें मेरे भी प्रणामपूर्वक श्रद्धा के भाव समर्पण करने की कृपा करें। परम-दयाधन श्री परमात्मा के चरणों में मैं प्रार्थना करता हूँ कि पूज्यवर डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र को सुदीर्घ, आरोग्य सम्पन्न, उत्साहपूर्ण कर्मण्य जीवन प्राप्त होकर उनकी कीर्ति की सुगन्ध दिग्दिगंत फैलती रहे।

१०. श्री बृजलाल बियाणी, भू० पू० वित्त मन्त्री, अध्यक्ष, विदर्भ हि० सा० सम्मेलन, इन्दौर :

भाई बलदेव प्रसादजी की सेवाएँ अनेक क्षेत्रों में सराहनीय रही हैं। वे अभिनन्दन के अधिकारी हैं। उनका और मेरा घनिष्ठ एवं ममत्व का सम्बन्ध

रहा है। उनके विचारों की उच्चता और स्वभाव की नम्रता इनका मुझ पर स्थायी असर है।

११. श्री घनश्यामसिंह गुप्त, सदस्य, राज्य भाषा (निर्धायी) आयोग, विधि मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली :

डाक्टर मिश्र की मैं प्रान्त के एक विशेष विद्वान व्यक्ति में गणना करता हूँ। परमात्मा उन्हें दीर्घायु दे।

१२. पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य, उज्जैन :

डाक्टर साहब इस प्रदेश के गौरव हैं, उनका अभिनन्दन कर हम भाग्यशाली होंगे।

१३. श्री मूलचन्द देशलहरा, भूतपूर्व प्रदेशाध्यक्ष, कांग्रेस कमेटी :

ईश्वर डाक्टर साहब को दीर्घायु करें।

१४. डा० नगेन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय :

मैं इस अवसर पर श्रद्धेय पण्डित जी का सादर अभिवादन करता हूँ।

१५. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय :

वे एक श्रेष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता और सुधी साहित्यिक है। मध्य प्रदेश के लोकसेवकों में उनका नाम सादर स्मरण किया जायगा।

१६. डा० विनयमोहन शर्मा, डायरेक्टर, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल, गांधी नगर, आगरा :

डाक्टर साहब को भगवान ऋपियों के समान दीर्घायु प्रदान करें जिससे राष्ट्रभापा समृद्धि लाभ कर सके।

१७. श्री डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी :

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र बहुत दिनों से हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं। वे हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं।

१८. आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी :

बंधुवर श्री बलदेव प्रसाद मिश्र सचमुच अभिनन्दनीय व्यक्ति है। आज एक सच्चे विद्वान और कर्मठ साहित्यज्ञ का अभिनन्दन होते सुन मेरे अन्तःकरण की सभी वृत्तियाँ सुखी हो रही हैं। मिश्रजी ऐसे तेजस्वी का केवल अभिनन्दन मात्र हो, यह राजनाँदगाँव के लिए मेरी दृष्टि में पर्याप्त न होगा। वहाँ के

नागरिकों को इस अवसर पर ऐसे अनुष्ठान का श्रीगणेश करना चाहिए जो मिश्रजी के किये हुए कार्य को वृद्धिगत करने वाला हो।

१९. श्री डा० भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय :

डा० मिश्र की साहित्य, संस्कृति एवं समाज की एक साथ सेवा अप्रतिम है। उनकी विनम्र भावना, शिष्ट शब्दावली, स्पष्ट विचारधारा एवं मृदुल किन्तु प्रभावशाली शैली सदैव उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पर एक अमिट प्रभाव डालने वाली है। उनका साहित्य वैचारिक मौलिकता, उदात्त कल्पना एवं गहरी भावुकता से परिपूर्ण है। उनकी कार्य तत्परता एवं कर्तव्य-श्रेय-त्याग का स्वभाव उन्हें एक सन्त सुलभ सरलता एवं सुजनता की विशेषताओं से सम्पन्न करने वाला है। साहित्य, समाज और संस्कृति के क्षेत्रों में ऐसे कर्मण्य व्यक्तियों की हमारे राष्ट्र को बड़ी आवश्यकता है।

२०. डा० मुंशीराम शर्मा, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आगरा विश्वविद्यालय :

आदरणीय डा० बलदेव प्रसाद मिश्र की ६५वीं वर्षगाँठ पर आप जो उनका अभिनन्दन कर रहे हैं वह सर्वतोभावेन प्रशंसनीय है।

२१. आचार्य श्री कल्याणमल जी लोढ़ा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय :

मिश्रजी राजनाँदगाँव से अधिक कलकत्ते के हैं—कलकत्ते से अधिक भारत के, सम्पूर्ण मानव समाज के। वे तुलसी के भक्त ही नहीं आज के 'तुलसीदास' ही हैं। वही निष्काम भक्ति, वही सरलता, अल्हड़ मस्ती और सादगी, जो उन्हें देखते ही इस पावन देश की ऋषि परम्परा का स्मरण करा देती है। मैंने जब जब उन्हें देखा है, तब तब न जाने कहाँ से रवीन्द्र की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आई हैं—"विश्वेर उदार रूप—महामानव"—वे उदारचेता, महामनीषी, विराट और मंगलरूप हैं।

एक सफल आचार्य, प्रकाण्ड विद्वान, उद्भट समालोचक, रससिद्ध कवि, परम वैष्णव और अजात शत्रु।

२२. श्री गुरुप्रसाद टंडन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन :

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के अभिनन्दन में समस्त हिन्दी जगत की भावनाएँ साकार हैं। मिश्रजी उन तपःपूत साहित्य साधकों में से हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के समीक्षात्मक अंग की श्रीवृद्धि कर उसका मुख प्रोज्ज्वल

किया है। आपके कुशल नेतृत्व में विविध साहित्यिक एवं सामाजिक संस्थाओं का संचालन होता रहा है। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता द्वारा आपकी कार्यक्षमता प्रकट है। आपकी मानस गंगा ने अनेक जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा तृप्त कर आत्मिक बल का संचार किया है। डा० मिश्र का निरभिमान व्यक्तित्व, सरल वेषभूषा और कर्तव्यनिष्ठा अनुकरणीय है।

२३. **श्री मोहन वल्लभ पंत, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ, आनन्द :**

इस अवसर पर डा० मिश्र का अभिनन्दन कर राजनाँदगाँव अभिनन्दनीय कार्य कर रहा है।

२४. **श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', प्राचार्य, शासकीय डिग्री विद्यालय, रायगढ़ :**

मैं डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का पुराना भक्त एवं अनुचर हूँ। ईश्वर उन्हें शतंजीवी करे और वे अपनी कल्पना का भारत साकार देखें।

२५. **श्री कमलाकांत पाठक, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय :**

डा० मिश्र का प्रदेय अविस्मरणीय है। उनकी देश, समाज, प्रदेश, शिक्षा और हिन्दी की बहुमुखी सेवाएँ कहाँ तक कही जायँ। उनका कार्य महान है और व्यक्तित्व पूज्य है। उनके विशाल कृतित्व का ऋण सभी हिन्दी प्रेमी नत-मस्तक हो स्वीकारेंगे।

२६. **डा० रामनिरंजन जी पाण्डेय, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्व-विद्यालय, हैदराबाद :**

पं० मिश्रजी चिरायु हों। उनको मेरा श्रद्धापूर्ण अभिनन्दन। समिति का निर्णय सर्वथा स्तुत्य।

२७. **डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर :**

डा० मिश्र हमारे प्रान्त के गौरव है। ऐसे सहृदय, परहित-परायण सुधी का अभिनन्दन कर हम अपनी कृतज्ञता ही ज्ञापित करते हैं। डा० मिश्र में बौद्धिक एवं शारीरिक दोनों कर्मठताओं का अद्भुत समन्वय है। उनका साहित्य विविध एवं विपुल है, साथ ही उसमें इतनी बौद्धिक एवं कलात्मक जागरूकता है कि नवीन से नवीन मूल्यांकन भी उसकी महत्ता स्वीकार किये बिना नही रह सकता। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का स्मरण उनके बिना सम्भव नहीं है।

२८. **श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह जी, भूतपूर्व अध्यक्ष, म० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर :**

मिश्रजी की सार्वजनिक सेवाएँ बहुमुखी हैं। विशेषकर साहित्यिक क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अमूल्य हैं। उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि हैं।

२९. श्री शिवनाथ मिश्र, उपसचिव, विधि विभाग, भोपाल :

मुझे विश्वास है कि राजनाँदगाँव के जन मानस का यह स्वयंस्फूर्त आयोजन आशातीत सफलता प्राप्त करेगा। वे एक दीपशिखा हैं जो स्वयं जलकर अपने चारों ओर पवित्रता और महत्ता का प्रकाश बिखेरते रहते हैं। मेरा यह कहना विनोदमात्र नहीं है कि मैं उनके सान्निध्य में अपने को जैसा कुछ मान पाता हूँ, उतना उनसे दूर रहकर नहीं। भाईजी वह पहाड़ है जिनके पास जाकर ऊँट छोटा नहीं, अपितु और बड़ा हो जाता है। उन्होंने जो किया वह, और जो न किया वह भी, सदैव निश्छलता, गंभीरता और गुरुता से अनुप्राणित रहा है। जिस सीमा तक उन्होंने अपने व्यक्तित्व को संकुचित रखने का प्रयास किया है, मानवता की सीमाएँ उसी सीमा तक प्रशस्त हुई हैं।

पूज्य भाईजी चिरायु हों और अपनी अविस्फोटक परन्तु व्यापक महत्ता द्वारा भारतीय दर्शन, संस्कृति और साहित्य को गौरवान्वित करते रहें, यही परमपिता के चरणों में मेरा निवेदन है।

३०. श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव, जबलपुर :

साहित्य सम्मेलनों, विश्वविद्यालयों तथा स्वयं राष्ट्रपति से डा० साहब को जो सम्मान प्राप्त हुआ वे उससे भी अधिक सम्मान के अधिकारी हैं। वे उन महान व्यक्तियों में से हैं जिनकी लेखनी और कंठ दोनों में सरस्वती का निवास है। मैं धन्य हूँ कि बाल्यावस्था से उनका स्नेह प्राप्त करता रहा हूँ।

३१. श्री हरिनारायणलाल श्रीवास्तव, दूरभाष विशेषज्ञ (भारत शासन एवं पूरबी ऐशियायी देश) :

डा. बलदेव प्रसाद बड़े दार्शनिक होते हुए भी व्यवहारकुशल सज्जन हैं। ईश्वरभक्त होते हुए भी दिव्य विचारों के कवि हैं और रामायण के बड़े आचार्य हैं। ठाकुर प्यारेलाल सिंह के बाद राजनाँदगाँव के सर्वसाधारण को प्रकाश दिखाने वाले तथा विशृंखलताओं में भी सामंजस्य का सृजन करने वाले डा० साहब सुदीर्घजीवी हों।

३२. महाराज कुमार डा० रघुवीरसिंह, डी० लिट्०, सीतामऊ, अध्यक्ष, म० प्र० रा० प्र० समिति :

इन वयोवृद्ध साहित्यिकों का सम्मान कर हम अपना ही समादर करते हैं।

३३. श्री प्राध्यापक के० ए० महमूद, विश्वविद्यालय, ढाका, पाकिस्तान :

डाक्टर साहब के प्रति मेरे विनम्र प्रणाम और मेरी बहुत-बहुत सद्भावनाएँ अर्पित कीजिएगा।

३४. डा० राजनाथ पाण्डे, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू, नेपाल :

मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ । वे चिरंजीवी हों ।

३५. श्री अलखनिरंजन पाण्डेय, एम० ए०, सहायक निरीक्षक, संस्कृत पाठशालाएँ, वाराणसी क्षेत्र :

पूज्य डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र महोदय हिन्दी साहित्य के वर्तमान इतिहास के उन अमूल्य रत्नों में हैं जिन्होंने हमारी विचार-पद्धति तथा भाव परम्परा को केवल उज्जीवित ही नहीं किया है पर अपनी अमर रचनाओं से भारतीय संस्कृति के उन उज्ज्वल अंगों को मूर्तिमान किया है जिनसे आज भारतीय समाज का आकर्पक, पवित्र तथा प्रभावशाली ढंग मे निर्माण किया जा सकता है ।

३६. श्री शारदाचरण तिवारी, सदस्य, विधान सभा, रायपुर :

डा. साहब से मेरी बहुत निकटता रही है और मैं उनका बड़ा आदर करता हूँ । समारोह की विशाल सफलता का हृदय से आकांक्षी हूँ । उन तक मेरे प्रणाम पहुँचाइयेगा ।

३७. श्री वीरभद्र झा, शास्त्री, राजनाँदगाँव :

गाम्भीर्ये वसुधा सुधाऽपि च मुधा यस्य प्रसादोदये
ज्ञाने गीष्पतिरप्यतीव चकितं चित्तं चलं मन्यते ।
सन्माने विदुषां द्विषां च नमने यस्य प्रयत्नो महान्
तस्य श्री बलदेव मिश्र चरणस्याकांक्षते मंगलम् ।।
आनन्दं परिवर्धयन् भुवि नृणां खेदं समुत्सादयन्
गीर्भिस्संजनयन् मुदम्प्रतिपलं सामाजिकानां हृदि ।
काल व्याल कराल जाल पतितानुत्थापयन् वांधवान्
राजन्तां बलदेव मिश्र चरणा आभारते भारते ।।

इनके अतिरिक्त प्राचार्य श्री कान्त मिश्र, आजमगढ़, कृषि कालेज, विदर्भ हि० सा० सं० के उपाध्यक्ष श्री प्रयागदत्त शुक्ल, नागपुर, श्री दशरथलाल जी दुबे अवकाश प्राप्त कलेक्टर, जबलपुर, श्री डा० गजानन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, विलासपुर, श्री डा० गोविन्द प्रसाद शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, रायगढ़, श्री मुकुन्दी लालजी श्रीवास्तव, हिन्दी समिति, लखनऊ, श्री नर्मदाप्रसाद खरे, जबलपुर, श्री प्यारेलाल जी गुप्त, बिलासपुर, श्री कन्हैयालाल जी वर्मा, रायपुर श्री सर्जे साहब, कलेक्टर, बिलासपुर, श्री स्वराज्य प्रसाद त्रिवेदी, बिलासपुर, श्री हरिहर प्रसाद शास्त्री, खरसिया, श्री बालचन्द जैन म० घा० स्मारक

संग्रहालय, रायपुर, श्री दिवाकर साहब, रायपुर, शारदा प्रसाद तिवारी, रायपुर, श्री विश्वम्भर देव मिश्र, रायपुर, श्री शंभूप्रसाद शुक्ल, रायपुर, श्री गोपालकृष्ण मोहनी, धरमपेठ नागपुर आदि अनेकानेक सज्जनों ने अपनी शुभकामनाएँ भेजीं जिनके लिए समारोह समिति उनकी कृतज्ञ है। व्यवसायियों में रायगढ़ के श्री किरोड़ीमल पालूराम जी, बिलासपुर के श्री बच्छराज अमोलकचन्द तथा अब्दुल गफ्फार सेठ, रायपुर के श्री नारायण दास खंडेलवाल, गोंदिया के श्री गोकुल प्रसाद, कामता प्रसाद तिवारी आदि उल्लेखनीय हैं। स्थानीय सज्जन तो प्रायः सभी थे जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं प्राध्यापक गजानन माधव मुक्तिबोध एवं साहित्य वाचस्पति डा० पदुमलाल पुन्नालाल जी बख्शी।